ओ३म्

नास्तिकवाद

लेखक
आचार्य देवेन्द्रनाथ शास्त्री सांख्यतीर्थ

सम्पादक
स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

प्रकाशक
दीक्षित प्रकाशन

६

नास्तिकवाद

आचार्य देवेन्द्रनाथ शास्त्री

भूमिका

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म॥
—तै० उ० ३।१

यह प्राणि-अप्राणिरूप जगत् जिससे उत्पन्न होता, उत्पन्न होकर [illegible]सके आश्रय जीता और जिसके द्वारा अन्त में विलीन होता है, उसको [illegible]नने की इच्छा करो—वह ब्रह्म है। सृजन (उत्पत्ति), विकास (स्थिति) [illegible]र प्रलयन (प्रलय)—तीनों एक विशाल परिपक्व योजना के अंग हैं। [illegible]नुसार 'सृजन' प्रलयन के लिए और 'प्रलयन' सृजन के लिए है। भूमि के [illegible]दर बोये बीज का गलना-सड़ना देखकर ऐसा लगता है कि वह नष्ट [illegible] रहा है। परन्तु इसी प्रक्रिया से अंकुर फूटता है। बीज का गलना उसकी [illegible]लय है और उसी में से अंकुर का फूटना प्रलय-काल की समाप्ति पर [illegible]सका फिर से उत्पन्न होना है।

जगत् की रचना इस बात को सिद्ध करती है कि इस रचना का कर्त्ता [illegible]ई पूर्ण पुरुष है जिसने अपनी रचना को गूढ़ और विचित्र बनाया है कि [illegible]से देखकर कोई भी उसकी सत्ता को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता। '[illegible] पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'। हमारे शरीर का बनना-बढ़ना अपने-आपमें एक [illegible]मत्कारपूर्ण रचना है। माता की कोख में पिता के वीर्य की एक बूंद से [illegible]र्भ स्थापित होता है और बढ़ने लगता है। अन्दर ही अन्दर शरीर के [illegible]ग-प्रत्यंग, ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का विकास होता रहता है और नौ [illegible]होने बाद बना-बनाया बच्चा माँ के पेट से बाहर आ जाता है। जिस माँ [illegible] पेट में नौ मास तक उसका निर्माण होता रहता है, वह भी इस विषय में [illegible]छ नहीं जानती। शरीर में रक्त आदि धातुओं तथा रक्तवाहिनी नाड़ियों

का जाल बिछा हुआ है। यह नाड़ी-जाल इतना सूक्ष्म और परस्पर गुंथा हुआ है कि उसकी पूरी जानकारी मानव शक्ति से बाहर है। त्वगिन्द्रिय का समस्त शरीर में व्याप्त रहना और प्रत्येक रोम एवं छोटे से छोटे अंश पर संवेदनशीलता व उसकी संचारशक्ति का विद्यमान होना, न्यूनाधिक मांस-पेशियों का यथास्थान संघटन एवं विभिन्न अंगों में छोटे-बड़े जोड़ों का सामंजस्य, सिर, भुजाओं, उदर आदि की अद्‌भुत रचना, विभिन्न प्रकोष्ठों में वात-पित्त-कफ के प्रतिष्ठान व संचार आदि की व्यवस्था, मुख, कण्ठ आदि में ध्वनि के अवयवों का सन्निवेश, आमाशय, पक्वाशय एवं विविध प्रकार के ऊर्ध्व-अधः स्रोतों के नितान्त व्यवस्थित प्रसार आदि के रूप में शरीर की रचना इतनी सुविचारित, दृढ़ तथा नियमित है कि किसी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन सत्ता की योजना के बिना जड़ तत्त्वों द्वारा इसका स्वयमेव सम्पन्न होना सर्वथा असम्भव है। आज के भौतिक विज्ञान, आयुर्विज्ञान तथा जन्तुविज्ञान (Physics, Medical Science and Zoology) के इतना अधिक उन्नत हो जाने पर भी शरीर-रचना के पूर्ण ज्ञान का दावा नहीं किया जा सकता, रचना करने की तो बात ही क्या।

शरीर की भाँति ही एक-एक फूल-पत्ती में—यहाँ तक कि एक-एक परमाणु की संरचना में हमें विचित्र रचना-कौशल के दर्शन होते हैं। प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता फ़्लिण्ट (Flint) का कथन है—

It is far more unreasonable to believe that the atoms or constituents of matter produced of themselves, without the action of a Supreme mind, this wonderful universe, than that the letters of English alphabet produced the plays of Shakespeare, without the slightest assistance from the human mind, known by that famous name. These atoms might, perhaps now and then, produce, by a chance contact, some curious collection or compound, but never could they produce order or organisation on extensive scale or a durable character, unless ordered, arranged and adjusted of ways of which intelligence could be the ultimate explanation.—Flint : Theism, P. 187.

अर्थात्—"यदि यह माना जाये कि प्रकृति के परमाणुओं ने, बिना किसी सर्वोपरि चेतन सत्ता के निर्देशन के, स्वयमेव मिलकर इस विचित्र

एव दुरूह सृष्टि की रचना कर डाली तो यह भी मानना होगा कि शेक्स-पीयर के नाटकों की रचना अंग्रेजी भाषा की वर्णमाला के अक्षरों ने उछल-उछलकर स्वयं कर डाली। शेक्सपीयर नाम से प्रसिद्ध किसी चेतन प्राणी का इसमें कोई हाथ नहीं।" ऋग्वेद के शब्दों में यही मानना पड़ता है—

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत॥
—ऋ० १०।७२।२

अर्थात् "दिव्य लोकान्तरों की रचना के अवसर पर सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म इन समस्त लोकों का उसी प्रकार निर्माण करता है जिस प्रकार कोई शिल्पी उपयुक्त साधनों से कार्य की रचना करता है। अर्थात् परमात्मा के द्वारा यह जगत् अव्यक्त से व्यक्त दशा में आ जाता है।" इस प्रकार भौतिक जगत् की बुद्धिपूर्वक रचना को देखकर सर्वज्ञ ब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है—

Scientific study shows the presence, in the physical universe of order, stabilty, directing power, intelligibility and capability of being understood by us. These qualities are not spontaneously produced, they do not come by chance. They are not the result of mere accident. They always imply thought and intelligence; and thought always necessitates a thinker. Hence in this universe, there is a supreme thinker or intelligence of which our intelligence is but a faint copy.—Science and Religion by Seven Men of Science.

संसार की स्थिति नियमों पर है। इन नियमों का संग्रहभूत नाम विज्ञान (Science) है। ब्रह्माण्ड भौतिक पदार्थों से और फिर सारा भौतिक प्रपंच प्राणिजगत् से एक सूत्र में बंधा हुआ है। सृष्टि में असंख्य ग्रह-उपग्रह हैं जो अपनी-अपनी धुरी और परिधि में गति कर रहे हैं। परन्तु लाखों-करोड़ों वर्ष बीत जाने पर भी आज तक परस्पर टकराये नहीं। विश्व के बृहद आकार, ग्रह-नक्षत्रों की अगणित संख्या और उन सब पर शासन करनेवाले नियमों के वैविध्य को देखकर बुद्धिपूर्वक नियोजन करने-वाले कुशल रचयिता पर विश्वास करना ही पड़ता है।

नियम क्या है? ज्ञात तथ्यों का साधारणीकरण। जो नियम आज सत्य

है, वे पहले भी सत्य थे, आज भी सत्य हैं, वे कल भी सत्य रहेंगे और परसों भी, जब तक विश्व रहेगा तब तक सत्य ही रहेंगे। यदि ऐसा न हो—इस प्रकार का विश्वास न हो तो गवेषणा करना व्यर्थ हो जाये और सारी वैज्ञानिक प्रगति ठप्प हो जाये। सृष्टि के रहस्यों को पूरी तरह जानने में मनुष्य की असमर्थता का उल्लेख करते हुए बीसवीं शताब्दी के सबसे बड़े वैज्ञानिक प्रो० आइंस्टीन ने अपने समय के प्रसिद्ध वैज्ञानिक मैक्स प्लांक (Max Plank) की पुस्तक 'Where is Science going ?' की भूमिका में लिखा है—

The Supreme task of the physicist is the discovery of the most general elementary laws from which the world picture can be logically deduced. But there is no logical way to the discovery of these elemental laws. There is only the way of intuition.

अर्थात्—"भौतिक विज्ञानी का मुख्य कार्य उन मूलभूत सिद्धान्तों की खोज करना है जिनसे सृष्टि-रचना का तर्कशास्त्रीय ज्ञान प्राप्त हो सके। किन्तु इन नियमों को जानने के लिए तर्कशास्त्रीय उपाय नहीं है। अन्तः-प्रेरणा के द्वारा ही उन्हें जाना जा सकता है।" भारत के मनीषियों ने यह ज्ञान अन्तःप्रेरणा (आत्मसाक्षात्कार) के द्वारा ही प्राप्त किया था।

आम लोगों की यह धारणा है कि आस्तिकवाद बीते दिनों की बात है और आधुनिक विज्ञान ने इसे अन्यथा सिद्ध कर दिया है। परन्तु वास्त-विकता इसके विपरीत है। जैसे-जैसे विज्ञान का विकास हो रहा है, वैसे-वैसे ईश्वर के प्रति बुद्धिजीवियों की आस्था बढ़ रही है। उदाहरणार्थ हम यहाँ कतिपय प्रमुख वैज्ञानिकों के विचार प्रस्तुत कर रहे हैं—

1. Things did not happen by chance. Law reigned everywhere.–Aristotle, quoted in the 'Book of Knowledge.'

2. The universe begins to look more like a great thought than like a great machine. Mind no longer appears to be an accidental intruder into the realm of matter. We are beginning to suspect that we ought rather to hail it as a creator and governor of the realm of matter.—James Jeanes : The Mysterious Universe, p. 148.

3. God is not only a thinker, but also a great poet, musician, a spirit that conceives in beauty and attains in song.—J. H. Holms : Is Science Vindicating Religion ? P. 20

4. Beyond all finite existences and secondary causes, all laws, ideas and principles there is an intelligence, the principle of all principles, the Supreme idea on which all ideas are grounded, the Monarch and Law-giver of the universe the ultimate substance from which all things derive their being, the first and efficient cause of all order, harmony, beauty, excellence and good which pervades the universe—who is called by his pre-eminence and excellence, the Supreme God, the God, the God overall.–Plato, quoted in Coeker : Christianity and Greek Philosoply.

परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है। परन्तु सर्वशक्तिमान् होने का यह अर्थ नहीं कि वह सब-कुछ कर सकता है। वह वैधानिक सम्राट् Constitutional Head) है जो संविधान के अनुसार ही शासन करता है। उसे अपने पूर्व-निर्धारित नियमों का उल्लंघन करने अथवा यदृच्छया संशोधन, परिवर्धन करने का अधिकार नहीं है। अपने गुण-कर्म-स्वभाव तथा सृष्टिक्रम के विरुद्ध वह कुछ नहीं कर सकता। ऐसे अनेक कार्य हैं जिनके करने का सामर्थ्य उसमें नहीं है। ईसाई सन्त और विचारक सेंट थामस ने लिखा है—

"He cannot undo the past, commit sin, make another God or make himself not exist."—Quoted by Bertrand Russell in his History of Western Philosophy, P. 480

अर्थात्—परमेश्वर भूतकाल को नष्ट नहीं कर सकता। न वह स्वय पाप कर सकता है और न अपनी सत्ता को मिटाकर दूसरा परमेश्वर बना सकता है।

प्लेटो का कथन है—

"Well, but can you imagine God will be willing to lie, whether in words or in deeds or to put forth a phantom of himself."—Plato : Republic in Five Great Dialogues, translated by B. Jowett, P. 285

अर्थात्—क्या इस बात की कल्पना की जा सकती है कि परमात्मा वाणी या कर्म में मिथ्याचरण कर सकता है या कोई ऐसा कार्य कर सकता है जो उसके शुभ गुणों के विपरीत हो ?

इंगलैण्ड के विख्यात पादरी ऐंसलम ने पूछा था—"Can God restore virginity to a prostitute ?" अर्थात् क्या परमेश्वर किसी वेश्या को कुंवारी बना सकता है ?

हम पूछते हैं—क्या परमेश्वर ऐसी त्रिभुज (triangle) बना सकता है जिसकी दो भुजाएँ मिलकर तीसरी से छोटी पड़ें ? क्या वह एक ऐसा पत्थर बना सकता है जिसे वह उठा न सके ?

वस्तुतः परमेश्वर अलादीन के लैम्प की तरह जो चाहे नहीं कर सकता। न वह जादूगार की तरह सूर्य को जहाँ चाहे रोक सकता है और न गोली को बन्दूक से निकलने के बाद बीच में रोक देने जैसे तमाशे कर सकता है।

अभाव से भाव की उत्पत्ति होना कहीं देखने में नहीं आता। यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति सम्भव होती तो कारण द्रव्य की अवश्यकता न होती। खेती के लिए बीज न डालना पड़ता। दूध के बिना दही, मिट्टी के बिना घड़ा, सूत के बिना वस्त्र और ईंट-पत्थरों के बिना मकान बन जाया करते। एक पौधे के बीज से दूसरे पौधे की—आम की गुठली से जामन की, नीबू के बीज से कटहल या गन्ने की और बेर की गुठली से अंगूर की खेती हो जाती। किन्तु ऐसा कहीं नहीं देखा जाता। सर्गकाल में परमेश्वर अव्यक्त प्रकृति को कार्यरूप में परिणत कर जगद्रचना करता है। अभाव को भाव रूप करना अथवा स्वयं अभौतिक होते हुए भी अपने में से जगत् के उपादान जड़ प्रकृति का सृजन करना उसकी शक्ति से बाहर है।

ईश्वर के जो स्वाभाविक कर्म हैं—जैसे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करना, सब जीवों के कर्मफल की व्यवस्था करना आदि—उनके करने में उसे किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं। इन्हें वह अपने अनन्त सामर्थ्य से कर लेता है। 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का यही अर्थ है।

ईश्वर दयालु भी है और न्यायकारी भी। समान प्रयोजन होने से 'दया' और 'न्याय' परस्पर-विरोधी गुण नहीं हैं। जिसने जितना बुरा कर्म किया उसे उतना ही दण्ड देना 'न्याय' है। दण्ड देने का प्रयोजन है मनुष्य

को अपराध करने से रोककर दुःख पाने से बचाना। दया का प्रयोजन भी किसी को दुःखों से छुड़ाना है। अपराधी को दण्ड न देने को यदि दया मान लिया जाय तो दया का नाश हो जाय। एक डाकू को दण्ड न देकर दया के नाम पर उसे छोड़ देने का अर्थ होगा उसे सैकड़ों-हजारों मनुष्यों को दुःख देने की छूट देना और स्वयं भी दुःख पाने के लिए पाप कर्म में प्रवृत्त होने का अवसर देना। ऐसा करने से दया कहाँ हुई ? डाकू को कारागार में रखकर उसे पाप करने से बचाने और अन्य सहस्रों मनुष्यों की उसके अत्याचारों से रक्षा करने में दया भी है और न्याय भी। जीवों के कल्याणार्थ संसार में नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न कर देना उसकी दया है और पूर्वकृत कर्मों के अनुसार प्राणियों के सुख-दुःख की व्यवस्था करना उसका न्याय है। स्तुति किए जाने अथवा दान-पुण्य किए जाने से वह कृतपापों को क्षमा नहीं करता। जो किया है उसका फल भोगना अवश्यम्भावी है।

जिसके रूप की कल्पना नहीं की जा सकती, उसे कागज़ या पत्थर में कैसे उतारा जा सकता है ? इसलिए जगत् में व्याप्त उस परमेश्वर की प्रतिमा या मूर्ति नहीं हो सकती। अपने अनन्त सामर्थ्य से इतने विशाल ब्रह्माण्ड की सृष्टि-उत्पत्ति-प्रलय करने वाले और अदृश्य होकर सब जीवों के कर्मफल की व्यवस्था करनेवाले परमात्मा को किसी भी कार्य को करने के लिए मानव शरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह इन्द्रियातीत है, इसलिए जो आँखों से दिखाई पड़ता है वह परमात्मा नहीं है। जो सर्वव्यापक है, उसके किसी स्थान-विशेष में रहने अथवा इधर-उधर जाने की कल्पना नहीं की जा सकती। जो आप्तकाम है, प्राणिमात्र जिसकी सन्तान है, जिसके लिए न कोई अपना है और न पराया है, वह विवाह करके अपना परिवार बढ़ाने और उसके पालन-पोषण की व्यवस्था में क्यों प्रवृत्त होगा ? इसलिए कोई विवाहित व्यक्ति परमेश्वर नहीं हो सकता।

सृष्टि में प्रत्येक वस्तु या घटना का कोई प्रयोजन होता है, भले ही हम उस प्रयोजन को न समझ पायें। प्रयोजन का निश्चय होने पर ही तदर्थ अपेक्षित नियम बनते हैं। प्रयोजन का तात्पर्य है कि प्रत्येक पदार्थ अथवा क्रिया की कोई उपयोगिता है।

सूर्य समुद्र से जल खींचता है, किन्तु उसके क्षारीय अंश को छोड़कर केवल शुद्ध जल को ग्रहण करता है। आकाश से जल न बरसे तो धरती पर

प्राणी न रह सकें। सूर्य के द्वारा जल खिंचते-खिंचते समुद्र सूख न जाये और इधर पृथिवी जल में डूब न जाये, इसलिए संसार के काम आने के बाद वही जल नदी-नालों के रूप में बहकर फिर समुद्र में जा पहुँचता है। प्राणी ऑक्सीजन से जीते हैं। दुर्गन्धित वायु का, जो उनके शरीर से निकलता है, उनके शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु इसी दुर्गन्धित वायु (कार्बन) से वृक्ष जीते हैं। वृक्षों द्वारा प्रदत्त ऑक्सीजन से प्राणी जीते हैं और प्राणियों से उत्पन्न कार्बन से वृक्षादि जीते हैं। वर्षा से वनस्पतियों को जीवन मिलता है और वृक्षादि वर्षा में सहायक होते हैं।

सूर्य पृथिवी से नौ करोड़ तीस लाख मील की दूरी पर है। इतनी दूरी पर होने पर भी वह हमारे जीवन से इस प्रकार जुड़ा हुआ है, कि उसे चराचर जगत् का आत्मा कहा गया है—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (यजु० १३।४६)। सूर्य में होने वाले तनिक से परिवर्तन का प्राणी तथा वनस्पति जगत् पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ऐसी ही स्थिति चन्द्रमा की है। चन्द्रमा का मन से, वायु का प्राण से और सूर्य का चक्षु से सीधा सम्बन्ध है। इस समय पृथिवी का जितना आकार है तथा अयन में घूमने की जो उसकी गति है, उसी के कारण जीवधारियों का पृथिवी पर रहना सम्भव है। इसी स्थिति में ये प्राणियों का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इसमें न्यूनाधिक्य होते ही सब अस्तव्यस्त हो जाएगा। इस व्यवस्था को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि यह सृष्टि स्वयं उद्भूत न होकर सर्वज्ञ चेतन सत्ता द्वारा रचित है।

अद्वैतवाद

परमात्मा है, पर वह अकेला नहीं है। किसी कार्य अथवा परिणाम के लिए अनेक कारण अपेक्षित होते हैं। प्रत्येक कार्य के लिए तीन का होना आवश्यक है। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' (योग० २।१८) के अनुसार यह संसार भोग और अपवर्ग का साधन है। यदि भोग्य है तो उसका भोक्ता होना आवश्यक है। भोग्य और भोक्ता के होने पर भोग्य को प्रस्तुत करने और दोनों का नियमन करने वाली सत्ता का होना भी आवश्यक है। किसी पदार्थ का उपादान कारण अचेतन तत्त्व होता है। चेतन तत्त्व केवल कर्ता या भोक्ता हो सकता है। ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति का परिणाम रूप जगत्सर्ग जीवात्मा के भोग के लिए होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद्

(१।१२) में इन तीनों कारणों एवं सत्ताओं का उल्लेख 'भोग्यं भोक्ता प्रेरयितारञ्च' कहकर किया है। ईश्वर के पूर्ण एवं आप्तकाम होने से सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों का उपभोग करने के लिए उससे भिन्न कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए। अन्यथा सृष्टिरचना निष्प्रयोजन होगी। ईश्वर तो क्या, कोई सामान्य पुरुष भी बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता—'न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते'। खाने वाला कोई न हो तो कौन भोजन बनाने बैठेगा? इस खाने वाले (भोक्ता) की संज्ञा 'जीव' है। यदि घर में खाने को कुछ न हो तो खाने वालों को बुलाकर कौन बिठायेगा? भोग्यरूप में प्रस्तुत 'प्रकृति' है। बिना कर्त्ता के क्रिया नहीं होती। कर्तृत्व चेतन का धर्म है, इसलिए अचेतन तत्त्व स्वतः कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता। उसे गति देने, संचालित व नियन्त्रित करने के लिए किसी सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् पुरुषविशेष का होना आवश्यक है। वही 'ईश्वर' है। इस प्रकार सृष्टि-रचना में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन कारण हैं। इनमें से किसी एक के न होने पर जगत्सर्ग सम्भव न होगा।

'नास्तिकवाद' के रचयिता श्री पं० देवेन्द्रनाथ शास्त्री सांख्यतीर्थ हैं जिनकी गणना अपने समय के मूर्धन्य वैदिक विद्वानों में की जाती थी। संस्कृत, हिन्दी तथा अरबी के प्रकाण्ड विद्वान् पं० देवेन्द्रनाथ शास्त्री वर्षों तक गुरुकुल महाविद्यालय सिकन्दराबाद के आचार्य रहे। पौराणिक, कुरानी और किरानी तथा अन्य मातावलम्बी कितने ही विद्वानों के साथ उनके शास्त्रार्थ हुए। प्रस्तुत निबन्ध में उनके पाण्डित्य तथा तर्कशक्ति की झलकमात्र है। मात्र ४८ वर्ष की आयु में असामयिक निधन हो जाने से उनके भीतर निहित अथाह ज्ञानराशि तो उन्हीं के साथ चली गई। उनकी विदुषी पुत्री श्रीमती शकुन्तला दीक्षित शास्त्री काव्यतीर्थ ने इस पुस्तक को 'दीक्षित प्रकाशन' के अन्तर्गत प्रकाशित करने का उपक्रम किया है। इसके लिए वह सबकी बधाई की पात्र हैं।

टिप्पणियाँ हमारी हैं।

—विद्यानन्द सरस्वती

नास्तिकवाद

आस्तिक विद्वान् जिन उपकरणों के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिपादन करते हैं वे ३ हैं—

(१) सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता कोई-न-कोई चेतन अवश्य होना चाहिए।[1]

(२) जीवों के कर्मों का फल देनेवाला कोई सर्वज्ञ चेतन अवश्य मानना चाहिए।[2]

(३) जीवों को सृष्टि के आदि में किसी सर्वज्ञ द्वारा ज्ञान मिलना चाहिए। इसके विपरीत नास्तिक विद्वान् ईश्वर के अभाव में ये हेतु देते हैं।[3]

(१) सृष्टि का कर्त्ता किसी भी प्रमाण से कोई चेतन सिद्ध नहीं होता अथवा सृष्टि का बनना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता।

(२) जीवों को कर्मों के फल अन्यथा भी मिल सकते हैं।

(३) जीवों में ज्ञान स्वाभाविक है और उसकी क्रमशः वृद्धि होती है, उनको दूसरे के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

इन तीनों प्रश्नों के उत्तर मिल जाने पर नास्तिकों के सारे

---

१. जन्माद्यस्य यतः—ब्रह्मसूत्र १।१।२

२. ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्—न्याय ४।१।१९

३. शास्त्रयोनित्वात्—ब्रह्मसूत्र १।१।३

प्रश्न स्वयं हल हो जाते हैं। इन्हीं प्रश्नों के गर्भ में नास्तिकवाद की गहरी नींव समाई हुई है। इन्हीं के सहारे बौद्ध, जैनी, चार्वाक तथा योरोपियन नास्तिक वेदों पर प्रबल आक्रमण करते हैं। प्राचीन ऋषियों और तार्किकों ने इन्हीं प्रश्नों को बड़ी गवेषणा से हल किया है।

नास्तिक—वह ईश्वर जो प्रत्यक्ष दीखता नहीं और तर्कानुमान से जिसकी सिद्धि नहीं होती, अनुभव से जो जाना नहीं जाता, उसको किस प्रकार स्वीकार किया जाए ?

आस्तिक—जिस विषय को अन्य प्रमाण नहीं बताते उस विषय को वेद द्वारा जानना चाहिए। प्रत्यक्ष और अनुमान से जो विषय नहीं जाना जाता, उसको शब्द-प्रमाण से जाना जा सकता है।[1]

नास्तिक—मैं वेदों को शब्द प्रमाण के अन्तर्गत नहीं मानता। इसलिए वेद-वाक्य मेरे लिए प्रमाण नहीं। दूसरे आप कहते हैं कि वेद स्वतःप्रमाण हैं और अपौरुषेय हैं; किन्तु जब तक पुरुष अर्थात् ईश्वर सिद्ध न होवे उसका ज्ञान वेद कैसे सिद्ध हो ? और आप वेद से ईश्वर की सिद्धि करते हैं यह अन्योन्याश्रय दोष है। इसलिए कोई और प्रमाण दीजिए ?

चार्वाक्—प्रत्यक्ष के विना अनुमान की भी सिद्धि नहीं होती। देखो, वात्स्यायन का अनुमान सूत्र—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्
सामान्यतोदृष्टञ्चेति।

अर्थात्—अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है। जब तक किसी

---

१. **प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।**
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

—सायणाचार्यकृत तैत्तिरीयसंहिताभाष्य, उपोद्घात

वस्तु का एक देश प्रत्यक्ष न हो उसका अनुमान नहीं हो सकता। सो यदि आप ईश्वर की सिद्धि में अनुमान प्रमाण दें तो प्रथम उसका कोई भाग प्रत्यक्ष जरूर होना चाहिए। और जब ईश्वर का एक भाग प्रत्यक्ष हो जाएगा तो कभी न कभी शेष भाग भी प्रत्यक्ष हो ही जाएगा।

आस्तिक—हाँ, अवश्य ! अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक ही होता है। ईश्वर की सिद्धि में भी मैं जो अनुमान देता हूँ वह प्रत्यक्षपूर्वक ही होगा।

नास्तिक—अच्छा ईश्वर-सिद्धि में आप अनुमान प्रमाण दीजिए।

आस्तिक—

क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं, कार्यत्वात्, घटादिवत्।

अर्थात्, पृथिव्यादिक किसी कर्त्ता के बनाए अवश्य हैं, कार्य होने से घड़े आदि की तरह। विचार कीजिए कि इतनी बड़ी पृथिवी, सूर्यादि लोक, हजारों मीलों के समुद्र क्या कभी बिना बनाए बन सकते हैं। इसलिए इनका बनाने वाला कोई अवश्य होना चाहिए। आपने जो कहा था कि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होना चाहिए सो ईश्वर के बनाए पृथिव्यादिक पदार्थ प्रत्यक्ष हैं। इन प्रत्यक्ष चीजों को देखकर इनके बनाने वाले अप्रत्यक्ष ईश्वर का अनुमान होता है।

नास्तिक—अनुमान के तीन भेद हैं १. पूर्ववत, २. शेषवत्, ३. सामान्यतोदृष्ट।[1] सो आप बताइए कि तीनों अनुमानों में

---

१. **प्रत्यक्ष**—सामान्यतया विषयवस्तु के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान की 'प्रत्यक्ष' संज्ञा है। परन्तु इन्द्रियों द्वारा गुणों का प्रत्यक्ष होता है, गुणी का नहीं। इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्पर्क से भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—जल के प्रत्यक्ष में स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से रूप व तरलता आदि की अलग-अलग अनु-

से आपका अनुमान किस प्रकार का है ?

आस्तिक—यह शेषवत् अनुमान है। जिसका अर्थ है, कार्य से कारण का ज्ञान।

भूतियाँ होती हैं। अलग-अलग होनेवाली ये अनुभूतियाँ केवल शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध की सूचनामात्र हैं। मन में इन सब सूचनाओं के एकत्र हो जाने पर उनके संयोग-वियोग द्वारा बुद्धि उन अनुभूतियों को समवेतरूप देकर उन्हें किसी नाम से अभिहित कर देती है। इसी को विषय का प्रत्यक्ष होना कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी वस्तु के इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उसके गुणों का प्रत्यक्ष होता है। गुण-गुणी का समवायसम्बन्ध (एक के बिना दूसरे का न रहना) होने से गुणों के साथ गुणी का प्रत्यक्ष मान लिया जाता है। मन के आशुगति होने से यह प्रक्रिया इतने वेग से होती है कि हम गुणी का ही प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

जिस प्रकार भौतिक जगत् में गुणों को देखकर गुणी का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार परमात्मा के लिंगों को देखकर लिङ्गी परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। सृष्टि की विशालता, सुव्यवस्थित रचना, कार्य-कारण शृंखला, नियमबद्धता, प्रयोजनवत्ता तथा कर्मफलापत्ति आदि को देखकर उसके रचयिता तथा नियामक परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है। सृष्टि के रचयिता तथा व्यवस्थापक की सत्ता को नकारना ऐसा ही है जैसा बगीचे की शोभा तथा उसके सौन्दर्य की सराहना करना, परन्तु माली की सत्ता को स्वीकार न करना। सृष्टि का संचालन कर रहे नियमों में से किसी नियम का ज्यों ही वैज्ञानिकों को पता चलता है, त्यों ही वह नियम चिल्लाकर कहता है—"मैं तो यहाँ पहले से विद्यमान था, मेरा निर्माता ईश्वर है, तुमने तो बस मुझे खोज निकाला है। इससे तुम्हारी अज्ञता अथवा अल्पज्ञता का एक और प्रमाण मिल गया है।"

पूर्ववत् अनुमान—जब कार्योन्मुख कारण को देखकर कार्य का अनुमान होता है तो वह पूर्ववत् अनुमान होता है, जैसे—बादलों को देखकर वर्षा का अनुमान। कारण सदा कार्य से पहले होता है, इस-

नास्तिक—तो जब तक यह दृश्य जगत् कार्य सिद्ध न हो जावे तब तक कार्यत्वात् यह हेतु साध्यसम हेत्वाभास है। इसलिए आपका अनुमान ठीक नहीं। आप प्रथम इस जगत् को कार्य सिद्ध करें।

आस्तिक—इसके लिए भी अनुमान सुनिए—"क्षित्यादिकं कार्यं सावयवत्वात्।" घटादिवत् अर्थात् पृथिव्यादिक कार्य हैं, सावयव होने से, घड़े आदि की तरह।

स्वभाववाद

नास्तिक—यह संसार स्वभाव से बना है। क्योंकि—

नित्यसत्त्वा भवन्त्येके, नित्यासत्त्वाश्च केचन।
विचित्राः केचिदित्यत्र तत्स्वभावो नियामकः॥
वह्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं रचितं तस्मात् स्वभावात्तद् व्यवस्थितिः॥

लिए उसे पूर्ववत् कहते हैं। यहाँ बादल (कारण) पहले और वर्षा (कार्य) बाद में है।

शेषवत् अनुमान—कार्य को देखकर कारण का अनुमान होना 'शेषवत् अनुमान' कहलाता है। जैसे—वर्षा को देखकर बादलों का अनुमान, पुत्र को देखकर पिता का अनुमान और धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान। इसी प्रकार सृष्टि को देखकर उसके रचयिता (ईश्वर) का अनुमान। पूर्व विद्यमान कारण की अपेक्षा से कार्य 'शेष' समझा जाता है, अतः 'शेष' पद कार्य का बोध कराता है।

सामान्यतोदृष्ट—विभिन्न प्रदेश में एकत्वेन दृष्ट व्यक्ति या पदार्थ जहाँ अदृष्ट का अनुमान कराता है, वहाँ 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान होता है। यात्रा के बिना कोई व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुँच सकता। इसलिए किसी समय दिल्ली में देखे गये देवदत्त को कालान्तर में बम्बई में देखकर दिल्ली से बम्बई तक की अदृष्ट यात्रा का अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान का उदाहरण है।

अर्थात्—संसार में बहुत-सी चीजें नित्य हैं और बहुत-सी अनित्य हैं और बहुत-सी विचित्र हैं। उनका नियामक सिवाय स्वभाव के और कौन है ? अग्नि गर्म, जल ठण्डा, वायु अनुष्णाशीत।[1] ये सब इस प्रकार के किसने बना दिये ? बस, इनके बनाने वाला स्वभाव ही है और इसी को नेचर (Nature) भी कहते हैं। जब कभी विज्ञानियों के सामने यह प्रश्न आता है कि अग्नि जलाता क्यों है, तो इसका उत्तर यही मिलता है कि यह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार संसार में जितनी क्रियाएँ हो रही हैं वे स्वाभाविक रूप से होती हैं। सूर्य का स्वभाव है कि वह पूर्व से उदय हो और पश्चिम में छिपे। पृथ्वी का स्वभाव है कि वह सूर्य के चारों तरफ भ्रमण करे। इसी तरह आम से आम, नीम से नीम आदि का पैदा होना भी स्वभाव है। इस प्रकार सृष्टि को स्वरूप से अनादि मानकर इस ब्रह्माण्ड का नियामक स्वभाव मान लेने से सारे दोष हट जाते हैं। फिर ईश्वर के मानने की आवश्यकता क्या है ?

आस्तिक—प्रथम आप स्वभाव का अर्थ कीजिए।

नास्तिक—एकनियतोभावः स्वभाव इत्युच्यते। अर्थात्—एक नियत भाव का नाम स्वभाव है अथवा स्वो भावः स्वभावः। अर्थात् वस्तु का धर्म स्वभाव कहलाता है।

आस्तिक—वह धर्म नित्य है अथवा अनित्य ?

नास्तिक—नित्य भी है, अनित्य भी है।

आस्तिक—नित्य स्वभाव किसका है और अनित्य किसका ?

नास्तिक—आकाश का स्वभाव नित्य है, इसी तरह सूर्य का

---

१. अप्सु शीतता (वै० २।२।५), तेजोरूप-स्पर्शवत् (वै० २।१।३); व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः (वै० २।२।२); स्पर्शवान् वायुः (वै० २।१।४) त आकाशे न विद्यन्ते (वै० २।१।५)

स्वभाव नित्य है और समुद्र आदि का अनित्य। घड़े का स्वभाव अनित्य है अर्थात् बनना और बिगड़ना।

आस्तिक—यह आपका भ्रम है। एक वस्तु के दो विरोधी स्वभाव नहीं हो सकते। यदि घड़े का बनना बिगड़ना दोनों स्वभाव हैं तो एक काल में दोनों स्वभाव कैसे रह सकते हैं? जिस समय में घड़े का बनना स्वभाव है उस समय में उसका बिगड़ना स्वभाव नहीं रह सकता।

नास्तिक—एक काल में कौन मानता है बनना? बनना एक काल का स्वभाव है, बिगड़ना दूसरे काल का।

आस्तिक—जब आप एक नियत भाव को स्वभाव कहते हैं तो वह नियत भाव प्रत्येक काल में रहना चाहिए।[1] अर्थात्

---

१. जड़ तत्त्व का स्वभाव सदा एक-सा रहता है। यदि परमाणुओं का स्वभाव संयुक्त होने का है तो स्वभाव से उत्पत्ति होने पर, यान्त्रिक क्रिया की भाँति, सदा उत्पत्ति ही होती रहेगी। तब संसार इसी रूप में बना रहना चाहिए। सर्ग के विपरीत उसकी प्रलय-अवस्था कभी नहीं आनी चाहिए। किन्तु संसार में बनी हुई वस्तुओं को बिगड़ते हुए देखा जाता है। यदि उपादान-तत्त्व किसी चेतन व्यवस्थापक की अपेक्षा नहीं रखता तो जड़ होने से वह अपने प्रवृत्ति-स्वभाव का परित्याग नहीं कर सकता। इसलिए यदि उपादान-तत्त्व में स्वत: प्रवृत्ति मान ली जाए तो उसमें निवृत्ति असम्भव होगी। यदि परमाणुओं का स्वभाव विकर्षण का होगा तो स्वभाव से विनाश होते रहने पर उत्पत्ति नहीं होगी। किन्तु पदार्थों को बनते देखा जाता है।

यदि परमाणुओं में कुछ का स्वभाव संयोग का और कुछ का वियोग का माना जाए तो, यदि संयोग स्वभाव वाले परमाणुओं की संख्या अधिक होगी तो सदा उत्पत्ति ही होती रहेगी और यदि वियोग स्वभाव वाले परमाणुओं की शक्ति अधिक होगी तो सदा विनाश ही विनाश होगा। एक धर्मी में दो परस्पर विरुद्ध धर्म एक काल में नहीं रह सकते। किन्तु यदि दुर्जनतोषन्याय से प्रत्येक परमाणु में दोनों

जिस समय घड़ा बन रहा है, उस समय बिगड़ना भी उसका स्वभाव उसके साथ रहना चाहिए।

नास्तिक—रहे तो क्या हानि है ?

आस्तिक—फिर घड़ा बनेगा कैसे ? क्योंकि बनने को बिगड़ना रोकेगा और बिगड़ने को बनना। इन दो विरुद्ध क्रियाओं के रहते घड़ा बन नहीं सकता।

नास्तिक—नहीं, जिस समय घड़ा बन रहा है उस समय बनने की प्रबल क्रिया उसके बिगड़ने को रोक देगी ? जैसे अग्नि पर गर्म करते समय जल का शीतलत्व स्वभाव भी कुछ नहीं कर सकता। वह प्रबल होने से जल के शीतलत्व स्वभाव को रोके रहता है।

आस्तिक—यह ठीक नहीं; गर्म जल में भी जल का शीतलत्व

स्वभाव युगपत् मान लिए जायें, तो भी उत्पत्ति और विनाश की व्यवस्था न हो सकेगी।" क्योंकि उत्पत्ति और विनाश दोनों का एक समय में प्रत्यक्ष होता है।

वस्तुत: उत्पत्ति और विनाश—उपादानतत्त्व की ये दो परस्पर विपरीत अवस्थाएँ हैं। प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप क्रियाओं को इच्छानुसार उत्पन्न करना चेतन का धर्म देखा जाता है। जगत् में बनना और बिगड़ना दोनों देखे जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपने मूल से परिणाम पाकर कार्यरूप में परिणत होता और समय पाकर पुन: उसी में विलीन होता है। समुद्र से प्राप्त जल से मेघ बनता और मेघ से बरसकर वही जल पुन: समुद्र में जा मिलता है। यह क्रम जैसे पृथक्-पृथक् पिण्डों में देखने में आता है, वैसे ही ब्रह्माण्ड की मर्यादा में देखने में आता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का समय तथा मर्यादापूर्वक व्यवहार में आना जड़ प्रकृति द्वारा असम्भव है। सृष्टि होते-होते प्रलय और प्रलय होते-होते सृष्टि की प्रवृत्ति स्वत: नहीं हो सकती। इसके लिए किसी नियामक चेतन सत्ता का होना अनिवार्य है।

धर्म नष्ट नहीं होता, केवल उस समय उसकी प्रतीति नहीं होती। वह उस समय अभिभूत हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो गर्म जल अग्नि को भी न बुझा सके। दूसरे, उष्णत्व स्वभाव अग्नि का है, उसके संसर्ग से जल में वह गुण आता है, अतः संसर्गज गुण से चाहे स्वाभाविक गुण का अभिभव हो जावे, किन्तु स्वाभाविक गुण का स्वाभाविक गुण से अभिभव नहीं हो सकता।[1]

नास्तिक—मैं यह नहीं कहता कि घड़े का नष्ट होना उसमें रहा ही नहीं, बनते समय भी वह रहता है, किन्तु बनने की प्रबल क्रिया के सामने उसकी प्रतीति नहीं होती।

आस्तिक—प्रतीति चाहे न हो किन्तु जब बिगड़ने की क्रिया स्वाभाविक रूप से हो रही है—और आप मानते भी हैं—तब बताइए कि घड़े के बन चुकने पर घड़ा टूट क्यों नहीं जाता? क्योंकि तब तो बनने की प्रबल क्रिया रही नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि घड़े का बनना और बिगड़ना दोनों ही स्वभाव नहीं हैं। यदि उसका बनना स्वभाव होता तो प्रत्येक समय बनना उसमें पाया जाता; और यदि बिगड़ना उसका स्वभाव होता तो किसी काल में भी नहीं बन सकता। जैसे जल का स्वभाव शीतल है अतः वह बिना ठण्डा किए भी स्वयं ठण्डा हो जाता है। इसी तरह घड़ा भी बिना किसी क्रिया के टूट जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि घड़े के ये दोनों स्वभाव नहीं हैं, बल्कि कर्त्ता की क्रिया के फल हैं। कुम्हार चाहे घड़े को बनावे चाहे न बनावे, तोड़े या न तोड़े, यह कुम्हार की इच्छा पर है। घड़े का इससे कुछ सम्बन्ध नहीं, वह तो केवल क्रिया का अधिकरण है।

---

१. न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः सम्भवति।
—ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य ३।२।११

नास्तिक—आप क्या सिद्ध करना चाहते हैं ?

आस्तिक—मैं इससे यह सिद्ध करना चाहता हूँ कि यदि यह जगत् बनता भी है और बिगड़ता भी है तो दोनों इसके स्वभाव नहीं हैं, बल्कि किसी कर्त्ता की क्रिया के फल हैं।

नास्तिक—तो क्या आप यह सिद्ध करते हैं कि जल को शीतल और अग्नि को गर्म परमात्मा ने ही बनाया है ?

आस्तिक—नहीं, जलीय और आग्नेय परमाणुओं के ये स्वभाव हैं।

नास्तिक—फिर परमात्मा ने क्या बनाया है ?

आस्तिक—जब परमाणु भिन्न-भिन्न थे तब उनमें स्वयम् एकत्र होने की शक्ति न थी, क्योंकि अचेतन थे। अतः उनको संयुक्त करना ईश्वर का कार्य है। जैसे मिट्टी के रहते हुए भी बिना कुम्हार के घड़ा नहीं बनता।[1]

---

१. चेतन निरपेक्ष प्रकृति जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि जड़ होने के कारण वह स्वयं कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकती। 'सकर्तृकैव क्रिया'—इस न्याय के अनुसार कर्त्ता के बिना क्रिया नहीं हो सकती, और न क्रियाजन्य किसी पदार्थ की रचना ही हो सकती है। जो संयोग से बनता है उसका संयोग करने वाला उससे भिन्न कोई दूसरा अवश्य होता है। सृष्टि की रचना ज्ञानपूर्वक व्यवस्थामूलक है, आकस्मिक नहीं। लोक-लोकान्तरों की रचना में जो आश्चर्यजनक कौशल दीख पड़ता है, वह किसी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन तत्त्व की प्रेरणा की अपेक्षा रखता है। अनादि काल से प्रयास करते रहने पर भी मनुष्य आज तक स्वयं अपने शरीर को भी नहीं समझ पाया। जिस माता के गर्भ में नौ मास तक उसका निर्माण होता है, वह भी इस विषय में सर्वथा अनभिज्ञ है।

उत्पन्न होनेवाली वस्तु समय पाकर बिगड़ जाती है। इसलिए सृष्टि की प्रलय करके उसे पुनः कारणरूप में ले जाने वाला भी कोई

नास्तिक—आपका यह दृष्टान्त ठीक नहीं है। देखिए, आकाश में बादल स्वयं एकत्रित हो जाते हैं, जल बनता है, जमता है और फिर बरस जाते हैं। ईश्वर कुछ नहीं करता। इसी तरह रेगिस्तान में बालू उड़ती है, टीले बनते हैं, रेत के पहाड़ बन जाते हैं। नदियों का पानी स्वयं चलकर एक जगह जमा होता है जिससे समुद्र बन जाता है। इसी प्रकार संसार के सारे पदार्थ बन जाते हैं। बताइए, इनमें ईश्वर कौन-सी क्रिया कर रहा है ?

आस्तिक—मैं थोड़े समय के लिए माने लेता हूँ कि वहाँ सारा कार्य स्वयं हो रहा है; किन्तु क्या आप बता सकते हैं कि रेल, तार, मकान, बर्तन, कपड़े, घड़ियाँ आदि पदार्थ स्वयं क्यों नहीं बन जाते ?

नास्तिक—स्वयं नहीं बन जाते, यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसीलिए तो इनका रचयिता मनुष्य माना गया है और वह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। किन्तु जहाँ हवा से रेत के टीले बनते हैं वहाँ टीले बनने में वायु के सिवाय और एक ईश्वर की कल्पना करना सर्वथा व्यर्थ है। इस प्रकार तो घड़े के बनाने में भी कुम्हार के साथ-साथ ईश्वर कारण है। सभी बातों में ईश्वर कारण रहेगा तो फिर मनुष्य स्वतन्त्र कैसे माना जाएगा ? और

चाहिए। अतः सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण होने से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध है।

मानवी सृष्टि में निर्माण के बाद कर्त्ता अपनी कृति के साथ नहीं रहता। न घड़ी बनाने वाला घड़ी के साथ रहता है और न मकान बनाने वाला मकान के साथ रहता है। किन्तु ईश्वरीय सृष्टि में स्रष्टा परमेश्वर सृष्टि में ओत-प्रोत रहकर उसकी स्थिति और संचालन का अधिष्ठाता बना रहता है।

फिर जब सारी क्रियाओं का कारण ईश्वर है, तब उसका फल भी उसे क्यों न भोगना चाहिए ?

आस्तिक—आपका कथन ठीक है रेगिस्तान में टीले बनाने का साक्षात् कारण वायु ही है, इसमें मैं भी ईश्वर को साक्षात् कारण नहीं मानता, यों ही घुणाक्षर न्याय से सारी क्रिया होती रहती है, उस क्रिया का फल क्या है, यह तो विचारिये ।

नास्तिक—फल कुछ नहीं । वायु का स्वभाव है चलना, रेत का स्वभाव है उड़ना, सो दोनों स्वाभाविक क्रिया करते हैं। उससे कहीं टीले बनते हैं, कहीं रेत उड़ता है । यदि ईश्वर को भी कारण मान लें तब भी वहाँ कोई फल नहीं दीखता ।

आस्तिक—ईश्वर को अभी छोड़िये—आपने कहा वहाँ फल कुछ नहीं, तो अब प्रश्न है कि यहाँ जो आँधी चलती है, रेत उड़ता है, इसका भी कुछ फल नहीं होगा, क्योंकि वह तो वायु का स्वभाव है; इसी प्रकार सूर्य का निकलना, समुद्र का बनना, पृथिवी और नक्षत्रों के घूमने का भी कोई फल नहीं होगा, तब इतना बड़ा ब्रह्माण्ड निष्फल क्यों चल रहा है, इससे फ़ायदा क्या है ? यदि आप कहें, स्वभाव से ऐसा ही चल रहा है हम इसका क्या उत्तर दें, तो इसका उत्तर यह है कि कारण द्रव्य को छोड़कर बनी वस्तुओं का नियमित स्वभाव स्वयं नहीं हो सकता, क्योंकि अचेतन पदार्थ ज्ञान-रहित होता है, उसे इच्छा नहीं होती। इसलिए अचेतन स्वयं नियमपूर्वक कुछ नहीं कर सकता ।

नास्तिक—क्या आप ऐसी कोई युक्ति दे सकते हैं जिससे अचेतन के कर्तृत्व का खण्डन होता हो ।

आस्तिक—हाँ, अवश्य दे सकते हैं । सुनिए—**'चेतननिरपेक्षा परमाणवो न नियमपूर्वकं किंचित्कर्त्तुमर्हन्ति—अचेतनत्वात्, यन्त्रादिवत् ।'**

(१) अर्थात् चेतन के बिना परमाणु नियमपूर्वक कुछ नहीं कर सकते (अचेतन होने से) जैसे बिना चेतन मनुष्य के यन्त्र नियमपूर्वक कुछ नहीं कर सकते।

(२) **'चेतननिरपेक्षा परमाणवो नान्यैः परमाणुभिः स्वयं संयोक्तुमर्हन्ति इच्छारहितत्वाद्द्वयोः घटकपालयोरिव'**—अर्थात्, चेतन के बिना एक परमाणु दूसरे परमाणु से स्वयं नहीं मिल सकता, इच्छारहित होने से—जैसे घड़े के दो कपाल परस्पर एक हज़ार वर्ष तक भी नहीं मिल सकते जब तक उनको कोई चेतन न जोड़े।

(३) **'चेतननिरपेक्षा परमाणवो न नियमपूर्वकं गतिशीला**

---

१. जैसे कुम्भकार के बिना मिट्टी से घड़ा नहीं बन सकता, वैसे ही जड़ प्रकृति के परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से मिलाये बिना सृष्टि की रचना नहीं हो सकती। घी, सूजी, चीनी आदि को पास-पास रख देने पर भी हलवाई के बिना हलवा नहीं बन सकता। कागज, स्याही और लेखनी को एकत्र रख देने से ग्रन्थ तैयार नहीं होता और कागज, ब्रुश और रंग रख देने मात्र से चित्रकार के बिना चित्र नहीं बनता। इसी प्रकार हल्दी, चूना और नींबू को एक साथ रखने से रोली नहीं बन जाती। कुछ लोगों का कहना है कि जैसे दूध स्वयमेव दही में परिणत हो जाता है, वैसे ही जगद्रचना में प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति हुआ करती है। वस्तुतः दूध का दधिरूप में परिणाम स्वतः नहीं होता। यदि दूध को आप ही आप दही बनने के लिए छोड़ दिया जाये तो कालान्तर में वह विकृत भले ही हो जाये, दधिरूप में परिणत नहीं होगा। दूध को दधिरूप में परिणत होने के लिए उसे ठीक तरह उबालना, यथासमय उचित मात्रा में उसे जामन देना तथा अनुकूल तापमान में उसे सुरक्षित रखना आवश्यक है। यह सब प्रक्रिया चेतन के सहयोग के बिना सम्भव नहीं। किसी चेतन सत्ता के द्वारा ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया के बिना अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती। घुणाक्षर न्याय से कोई एक अक्षर भले ही बन जाय, किसी काव्य या नाटक की रचना सम्भव नहीं। आकाश में उड़ते बादलों से किसी आकार की क्षणिक प्रतीति हो सकती है, किन्तु किसी जीते-जागते प्राणी की सृष्टि नहीं हो सकती।

भवितुमर्हन्ति ज्ञानप्रयत्नशून्यत्वात् खण्डितगिरिखण्डादिवत् ।'— अर्थात्—अचेतन परमाणु नियमपूर्वक गतिशील नहीं हो सकते ज्ञान और प्रयत्नरहित होने से—टूटे हुए पर्वत के खण्ड की तरह । जैसे टूटा हुआ पर्वत खण्ड सैकड़ों वर्षों तक एक स्थान पर पड़ा रहता है और ज्ञान प्रयत्न रहित होने से नियमपूर्वक कहीं नहीं चला जाता, ऐसे ही परमाणु भी स्वयं कुछ नहीं कर सकते ।

(४) **'अचेतनाः परमाणवः स्वयं नियतकालदिशःसु क्रिया-रहिताः—ज्ञानरहितत्वात् तुरगविहीनयानवत् ।'**—अर्थात् अचेतन परमाणु स्वयं नियमपूर्वक नियत देश, नियत काल और नियत दिशा में कार्य नहीं कर सकते ज्ञानरहित होने से, घोड़े से रहित गाड़ी की तरह । जैसे केवल गाड़ी किसी नियत स्थान पर नियत समय पर स्वयं नहीं जा सकती जब तक उसके साथ कोई चेतन न हो, इसी तरह कोई परमाणु नियमपूर्वक कुछ नहीं कर सकता ज्ञानरहित होने से । इससे सिद्ध है कि ब्रह्माण्ड का नियमपूर्वक कार्य किसी चेतन द्वारा ही हो रहा है; ऐसा न हो तो स्वयं कुछ न हो सके ।

नास्तिक—आपके सारे अनुमान अनैकान्तिक हेत्वाभास-युक्त होने से व्यभिचरित हैं क्योंकि सूर्य और पृथ्वी अचेतन होते हुए नियमपूर्वक भ्रमण करते हैं । मेघ नियत समय पर वर्षा करते हैं और वायु नियमपूर्वक चलता है किन्तु दोनों अचेतन हैं ।

आस्तिक—आपका दृष्टान्त ठीक नहीं है । जब अचेतन पृथिवी नियमपूर्वक सूर्य के चारों तक तरफ स्वयं ही घूमती है, जब प्रतिदिन नियमपूर्वक सूर्य ज्ञान और इच्छारहित होने पर भी स्वयं निकलता है तब आपका मकान स्वयं उठकर कहीं क्यों नहीं चला जाता ? अग्नि में तपा हुआ लोहे का गोला क्यों नहीं कहीं को चल देता ? उसमें उस क्रिया का अभाव क्यों है जो सूर्य और

पृथिवी में है ?

नास्तिक—उनका स्वभाव ही ऐसा है।

आस्तिक—जब दोनों अचेतन हैं तब दोनों के स्वभाव में अन्तर क्यों हुआ ? इससे सिद्ध है कि पृथिवी, सूर्य, वायु, मेघ, जल इन सब पदार्थों में वह चेतन जल में रस की तरह, पृथ्वी में गन्ध और अग्नि में रूप की तरह और वायु में स्पर्श तथा आकाश में शब्द की तरह ओतप्रोत है। क्रियावान्, ज्ञानवान्, प्रयत्नवान्, इच्छावान् वही है। अचेतन पदार्थ तो केवल क्रिया के अधिकरण हैं। देखो उपनिषद् को—**'भयात्तस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।'**

नास्तिक—मैं उपनिषद् नहीं मानता—मैं केवल तर्क को प्रमाण मानता हूँ। आपने जो कहा क्रियावान्, प्रयत्नवान्, इच्छा-वान् वही है, अब देखना यह है कि क्रिया पृथ्वी में है, ईश्वर में तो इसलिए नहीं मानी जा सकती कि आप उसे निष्क्रिय मानते हैं और पृथिवी में प्रत्यक्ष क्रिया दीखती है इसलिए निःसन्देह पृथिवी में ही क्रिया माननी पड़ेगी—जिस तरह हमारे शरीर में जितनी क्रियाएँ होती हैं उनके अधिकरण हमारे हाथ-पैर ही हैं।

आस्तिक—यह भी दृष्टान्त ठीक नहीं है। यद्यपि हमारे शरीर में ही प्रत्यक्ष रूप से क्रिया देख पड़ती है तो भी वह हाथ-पैरों से पैदा हुई कदापि नहीं मानी जा सकती। यदि यह बात ठीक न हो तो मरे हुए मनुष्य में भी क्रिया क्यों नहीं दीख पड़ती ?

नास्तिक—चेतन जीवात्मा के पृथक् हो जाने से मृत शरीर में क्रिया नहीं दीख पड़ती।

आस्तिक—तो इससे सिद्ध हो गया कि शरीर में जो क्रिया

थी वह चेतन जीवात्मा की ही थी; यद्यपि वह चेतन दीखता नहीं था और यद्यपि वह क्रिया प्रत्यक्ष देह में दीखती थी।

नास्तिक—तो क्या अचेतन में क्रिया होती ही नहीं ?

आस्तिक—क्रिया तो अचेतन में ही होती है किन्तु उसका पैदा करनेवाला चेतन ही होता है; क्योंकि जिसके बिना जो न हो वह उसका कारण है। चेतन के बिना अचेतन में क्रिया नहीं होती, इसीलिए चेतन उस क्रिया का कारण है। इसी तरह अचेतन सूर्य और पृथिवी में भी यद्यपि साक्षात् क्रिया दीखती है तो भी उस क्रिया का कारण परमात्मा को ही मानना पड़ेगा।[1]

नास्तिक—यदि क्रियावान् मानना ही पड़ेगा तो आपको

---

१. **व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत्।**—ब्रह्मसूत्र ३।३।५४

प्राणी का शरीर पञ्चभूतों का संघात है। भूतों का मूल उपादान तत्त्व सर्वथा जड़ है। भूतों का विश्लेषण करने पर किसी भी मूलभूत तत्त्व में चेतन की प्रतीति नहीं होती। जब उनमें से प्रत्येक में चैतन्य का अभाव है तो उनके संघात में चैतन्य कहाँ से आ जाएगा ? चैतन्य शरीर से भिन्न चेतन सत्ता (जीवात्मा) के कारण है। जब तक शरीर में जीवात्मा रहता है तभी तक शरीर में क्रिया होती है। जीवात्मा के शरीर से निकलते ही, शरीर के ज्यों का त्यों रहते हुए भी, उसके अंग-प्रत्यंग में होने वाली समस्त क्रियाओं का लोप हो जाता है। यदि चेतन के बिना क्रिया सम्भव होती तो मृतदेह में भी वह ज्यों की त्यों बनी रहती। जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता आती है, वही जीवात्मा है। क्योंकि जिसके होने से जो हो, और न रहने से न हो, वे गुण उसी के होते हैं।

जिस प्रकार अचेतन तत्त्वों से बने शरीर में जीवात्मा के बिना किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती, उसी प्रकार परमात्मा के बिना जड़ प्रकृति से बने जगत् में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय किसी भी प्रकार का कार्य नहीं हो सकता।

भी वह एकदेशी मानना ही पड़ेगा, क्योंकि सक्रिय पदार्थ व्यापक नहीं हो सकता और व्यापक में क्रिया नहीं हो सकती, क्योंकि एक देश त्यागपूर्वक अन्य देश सम्बन्धानुकूल व्यापार का नाम ही क्रिया है। क्या आप परमात्मा में ऐसी क्रिया स्वीकार करते हैं?

आस्तिक—नहीं; ऐसी क्रिया तो एकदेशी में ही हो सकती है। परमात्मा की क्रिया तो चुम्बक या मेनगेट अथवा ध्रुव के समान है। जैसे चुम्बक की शक्ति से लोहे में क्रिया होती है किन्तु चुम्बक स्वयं उस क्रिया का अधिकरण नहीं बनता; जैसे ध्रुव अचल रहता भी कुतुबनुमा को हरकत देता रहता है; इसी तरह परमात्मा की अविकल शक्ति से सर्वत्र क्रिया होती रहती है किन्तु वह स्वयं क्रिया नहीं करता। यदि क्रिया का लक्षण आपका ही माना जाय तो चुम्बक में वह लक्षण दिखाइए। बिजली के तार नेगेटिव और पोजेटिव एक जगह स्थित रहकर आकर्षण भी करते हैं और अपकर्षण भी करते हैं, किन्तु वे स्वयं अविचल रहते हैं। क्या वे सक्रिय हो सकते हैं और क्या उनसे अन्य पदार्थों में क्रिया उत्पन्न नहीं होती? इसलिए यह सिद्ध हुआ कि प्राकृतिक क्रिया तो वही है जैसी आपने बताई, किन्तु जिसका नाम शक्ति है जिससे क्रिया उत्पन्न होती है, वह दो प्रकार की है, एक ध्रुव, दूसरी अध्रुव। ध्रुवशक्ति चुम्बक में है और अध्रुव रेल के इञ्जन में है, क्योंकि विभु पदार्थ में एक देश-त्याग और अन्य देश प्राप्ति नहीं होती, अतः चुम्बकीय शक्ति ही वहाँ माननी पड़ेगी—जिससे, ईश्वर में कोई दोष नहीं आता।[1]

---

१. A thing does not move where it is; it cannot move where it is not; it moves from where it is to where it is not.

नास्तिक—अच्छा, वह शक्ति ही क्रिया सही। किन्तु वह नित्य है या अनित्य ? स्वाभाविक है या नैमित्तिक ? यदि संसार के बनाने की शक्ति स्वाभाविक है तो वह बिगाड़ नहीं सकता; यदि बिगाड़ने की शक्ति स्वाभाविक है तो वह बना नहीं सकता। यदि दोनों शक्तियाँ स्वाभाविक हैं तो न बना सकता है न बिगाड़ सकता। यदि काल भेद से शक्ति भिन्न-भिन्न मानो तो वह स्वाभाविक न रही, इसलिए ईश्वरीय शक्ति के रूप का उपपादन कीजिए।

आस्तिक—बनना और बिगड़ना ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं, वास्तविक धर्म नहीं हैं। जैसे खेत का खोदना उसका बनना है, किन्तु किसी अच्छे मकान को खोदना उसका बिगड़ना है। क्रिया दोनों जगह एक-सी हैं, फिर बनना और बिगड़ना प्राकृतिक अतात्त्विक धर्म हैं—शक्ति का काम क्रिया उत्पन्न करना है। वह ईश्वरीय शक्ति स्वाभाविक नित्य है उससे ब्रह्माण्ड को शक्ति मिलती है। उस शक्ति से कोई वस्तु बनती मालूम होती है कोई बिगड़ती, किन्तु इससे शक्ति में कोई भेद नहीं आता। जैसे सूर्य ताप देता है उससे कोई वस्तु सड़ती है, कोई सूखती है; कोई फल बनता है, कोई बिगड़ता है; किन्तु सूर्य की ताप शक्ति में भेद नहीं आता। क्या कोई यह कह सकता है कि सूर्य की अमुक तापशक्ति नाशक, अमुक विश्लेषक, अमुक संयोजक है ? नहीं, ताप के ये धर्म नहीं हैं। हाँ, उस शक्ति से

कोई वस्तु वहाँ गति नहीं करती जहाँ वह है; वह वहाँ गति नहीं कर सकती जहाँ वह नहीं है; वह जहाँ है वहाँ से वहाँ को गति करती है जहाँ वह नहीं है।

तात्पर्य यह कि परमात्मा समस्त जगत् को गति देता है, किन्तु सर्वव्यापक होने से स्वयं गति नहीं करता।

अनेक प्रकार की क्रियाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

नास्तिक—बनना और बिगड़ना सापेक्ष चाहे हों, किन्तु हैं तात्त्विक, क्योंकि सृष्टि का बनना एक समय में होता है और प्रलय दूसरे समय में। किन्तु बनना भी तात्त्विक है और बिगड़ना भी। किसी वस्तु की सापेक्षता किसी के तात्त्विकपने को नष्ट नहीं कर सकती। दूसरे सूर्य का दृष्टान्त भी विषम है; वहाँ सड़ने-गलने-सूखने में कोई नियम नहीं पाया जाता। कोई फल आज ही पककर सूख जाता है, कोई किसी प्रतिवन्ध के कारण बरसों रखा रहता है, किन्तु सूर्यादि नियमपूर्वक चलते हैं, यदि इसमें केवल ईश्वर की शक्ति ही नियामक हो तो उलटफेर भी होना चाहिए।

आस्तिक—मेरा यह सिद्धान्त नहीं कि संसार की सब वस्तुएँ सापेक्ष होने से अतात्त्विक होती हैं। मैं तो बनने और बिगड़ने को अतात्त्विक बताता हूँ। दूसरे, जो सूर्य का दृष्टान्त विषम बताया वह ठीक नहीं; वहाँ अचेतन सूर्य द्वारा ताप प्राप्त होता है और ब्रह्माण्ड की नियामक चेतन ईश्वर की शक्ति है। इस भेद के कारण फलों के सड़ने-गलने में कोई नियम नहीं। किन्तु सूर्य के भ्रमण में बराबर नियम पाया जाता है फिर भी शक्ति दोनों जगह एक-सी ही है। हाँ, सौरशक्ति अनित्य है और ईश्वर की शक्ति स्वाभाविक, एकरस, नित्य है—उसमें कभी भेद नहीं पड़ता।

नास्तिक—भेद तो स्पष्ट है। जब आप कहते हैं कि यह पृथिवी ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष रहकर नष्ट हो जाती है, इस प्रकार या तो ईश्वर की दो शक्तियाँ माननी पड़ेंगी या शक्ति अनित्य माननी पड़ेगी क्योंकि एक काल में वह बनाता है और एक में बिगाड़ता है।

आस्तिक—आपने काल-भेद से जो शक्ति के भेद का उपपादन किया वह सर्वथा अयुक्त है। ईश्वर के लिए भूत-भविष्यत् नहीं होते,[1] सर्वदा वर्तमान ही रहता है। उसका प्रत्येक कार्य वर्तमान में ही होता है, क्योंकि काल वस्तुतः सूर्य के भ्रमण का फलमात्र है। यदि सूर्य न हो तो भूत-भविष्यत् दोनों न हों, केवल वर्तमान ही रहे। अब चूंकि परमात्मा एकरस है अतः उसका ज्ञान नित्य उसकी क्रिया नित्य है। अतः उसका हरएक काम अनवच्छिन्न रूप से होता रहता है। हम अल्पज्ञों की दृष्टि में भूत-भविष्यत् का भेद पड़ता है। अतः कालकृत भेद से शक्ति-भेद नहीं माना जा सकता। रहा यह प्रश्न कि सृष्टि कुछ अन्तर से बनती और बिगड़ती है फिर शक्ति अनित्य क्यों नहीं ? इसका उत्तर यह है कि सृष्टि तो प्रति समय बनती और बिगड़ती रहती है। सर्ग और प्रलय प्रति समय होते रहते हैं। उसके लिए भिन्न समय मानना ठीक नहीं।

नास्तिक—क्या इस समय भी सर्ग और प्रलय हो रहा है ?

आस्तिक—हाँ, हो रहा है। वृक्ष, पर्वत, समुद्र वगैरह का व्यष्टिरूप से सर्ग और प्रलय प्रति समय होता रहता है।

नास्तिक—फिर ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष के अनन्तर सारे ब्रह्माण्ड का प्रलय क्यों माना जाता है ? क्यों नहीं यही क्रम माना जाता।

आस्तिक—यह क्रम इसलिए नहीं माना जाता कि जो वस्तु

---

१. "जो होकर न रहे, वह 'भूतकाल' और न होके होवे वह 'भविष्यत्काल' कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता ? तथा न होके होता है ? इसलिए परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस, अखण्डित वर्त्तमान रहता है। भूत-भविष्यत् जीवों के लिए है। हाँ, जीवों की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं। —सत्यार्थप्रकाश

समष्टिरूप से बनी है उसका समष्टिरूप से नाश होना अनिवार्य है। जैसे किसी तालाब में अनेक तरंगें पैदा होती हैं और नष्ट होती रहती हैं तो भी एक दिन वह सारा तालाब भी सूख जाता है। इसी प्रकार व्यष्टि-प्रलय होते हुए भी एक दिन समष्टि-प्रलय भी अवश्य होती है जिसकी अवधि ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष है।

नास्तिक—आपने कहा वह क्रियावान् है; किन्तु उपनिषदों में निष्क्रिय भी कहा हुआ है और क्रियावान् भी। इस दशा में दो विरोधी धर्मों के रहते ईश्वर को क्या माना जाय ?

आस्तिक—उसमें दोनों धर्म हैं केवल आपकी समझ का फेर है। देखिए, निष्क्रिय तो वह इसलिए है कि उसमें उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन, भ्रमण, रेचन, स्पन्दन, पतन आदि क्रियाओं का अभाव है; और क्रियावान् इसलिए है कि वह इस ब्रह्माण्ड को अपनी नित्य शक्ति से चला रहा है—"स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" का अर्थ यही है कि यह स्वाभाविक ज्ञानवान् है, हमारी तरह उसका ज्ञान घटता-बढ़ता नहीं; वह स्वाभाविक बलवान् है, उसका बल घटता-बढ़ता नहीं; और स्वाभाविक क्रियाशील है—अर्थात् उसकी दी हुई शक्ति सदा एकरस रहती है, उसमें अणुमात्र भी भेद नहीं पड़ता।[1]

नास्तिक—भेद क्यों नहीं पड़ता—जब प्रलय में उसकी जगज्जनन शक्ति बन्द हो जाती है तो क्रिया बन्द हुई कि नहीं।

आस्तिक—नहीं, उस समय भी वह शक्ति बराबर काम करती रहती है।

नास्तिक—तब फिर प्रलय ही क्या हुई, फिर सर्ग क्यों नहीं होता ?

आस्तिक—ईश्वरीय शक्ति तो उस समय भी वैसी ही रहती

---

१. स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।

है जैसी अब है; किन्तु प्रलय में उसके द्वारा परमाणुओं का विश्लेषण और कारण होता है। हमारी दृष्टि में वह प्रलय है, किन्तु वस्तुतः वह भी सर्ग है, जैसे प्रातःकाल से सायंकाल तक एक मनुष्य काम करके रात्रि को विश्राम लेने के लिए सोता है, क्या उस समय उसके शरीर की शक्ति नष्ट हो जाती है? नहीं, उस समय शरीर की वह शक्ति, जो दिन में क्रियाओं में नष्ट होती है, शरीर का धारण-पोषण करती है। यही प्रलय की दशा है। ऊपर कहा गया है कि प्रलय भी सर्ग है इसपर आपको आश्चर्य होगा किन्तु आप उदाहरण के लिए घड़ी को लीजिए। घड़ीसाज घड़ी बनाने के लिए पहले उसके पुर्जे-पुर्जे अलग करता है फिर उनको जोड़ता है। यदि पुर्जों के पृथक् करने की दशा में कोई उससे पूछे कि क्या करते हो तो वह यही उत्तर देता है कि घड़ी बनाता हूँ। यद्यपि वह उस समय उसे तोड़ रहा होता है। किन्तु वस्तुतः देखा जाय तो इस तोड़ने का नाम ही बनाना है। वह एक ही प्रकार की क्रिया कर रहा है, जिसका परिणाम बनना ही होगा। जैसे एक यन्त्र बार-बार टूटकर फिर जुड़ता है और दोनों क्रियाओं से एक वस्तु को बनाता है इसी प्रकार से संयोगज और वियोगज क्रियाओं के परिणाम का नाम ही बनना है, नहीं तो बनना कोई वस्तु नहीं है। क्या कोई भी किसी पड़े हुए पत्थर को कह सकता है कि वह बन रहा है या बिगड़ रहा है? हाँ यदि पत्थर को किसी मकान के बनाने के लिए तोड़ा जाता है तो उस टूटने की क्रिया को ही बनना और बिगड़ना कहते हैं—अर्थात् पत्थर का मालिक कहता है कि मेरे पत्थर को क्यों तोड़ते हो और मकान का मालिक कहता है कि मकान के लिए पत्थर बनाया जा रहा है। इसी तरह प्रलय होती है। तात्पर्य यह है कि सर्ग का अर्थ है पृथक् होकर मिलना। अतः

सिद्ध हुआ कि ईश्वर की शक्ति सर्ग और विसर्ग में भिन्न नहीं होती, बल्कि एकरस ही रहती है।

यहाँ तक हमने परब्रह्म में क्रिया, क्रिया का अभाव, सर्ग, विसर्गादि का वर्णन किया। अब आगे जो नास्तिकों के दूषण हैं, उनका निराकरण करते हैं।

सशरीर कर्तृत्ववाद

नास्तिक—अभ्युपगम सिद्धान्त से मैं आपका कथन मान भी लूं तब भी यदि ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना जाएगा तो और दोषों के अतिरिक्त उसमें शरीर का सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि कर्त्ता के साथ शरीर की व्याप्ति है।

यद्यत्कार्यं तत्तत्शरीरमत्कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटादिवत्।

अर्थात् जितने कार्य हैं वे सब शरीरी कर्त्ता से ही होते हैं। कार्य होने से जैसे घड़ा—कुम्हार घड़े को शरीर से ही बनाता है, बिना शरीर के नहीं। इसी प्रकार यदि ईश्वर को भी कर्त्ता माना जाय तो उसके भी हाथ-पैर होने चाहिएँ?

आस्तिक—आपने ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता तो माना किन्तु दोष उसमें शरीर का रह गया। अब शरीर मानने से आपके कथन का निम्नलिखित अभिप्राय प्रकट होता है अर्थात्—

(१) यदि वह कर्त्ता है तो उसका शरीर अवश्य होना चाहिए। वा—

(२) यदि वह शरीरी नहीं है तो कर्त्ता भी नहीं है। वा

(३) यदि पृथिवी आदि पदार्थ बने हैं तो शरीरी कर्त्ता ने ही बनाए हैं। वा

(४) यदि ये शरीरी कर्त्ता ने नहीं बनाए तो वे कार्य भी नहीं हैं। अब इन विकल्पों में से प्रथम विकल्प की बाबत आपसे

यह पूछना है कि आपका 'शरीर' पद से क्या तात्पर्य है ?

नास्तिक—हाथ पैर आदि अवयवों और इन्द्रियों के समुदाय का नाम ही शरीर है अथवा आप ही का लक्षण '**चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्**' रहने दीजिए।

आस्तिक—आपका अभिप्राय यह है कि बिना इन्द्रिय और हस्त-पादादि के कोई कार्य या पदार्थ नहीं बन सकता ?

नास्तिक—जी हाँ।

आस्तिक—अच्छा तो प्रथम आप यह बतावें कि आपके हाथ-पैर किन हाथ-पैरों से बने हैं ?[1]

---

1. चेतन ब्रह्म को अपने कार्य-सम्पादन के लिए करणों की आवश्यकता नहीं होती। इन्द्रियों की साधन रूप में आवश्यकता अपने से बाहर कार्य करने के लिए होती है। दूसरों तक अपनी बात पहुँचाने के लिए वाणी की आवश्यकता होती है किन्तु अपने आपसे बात करने के लिए नहीं। जहाँ कोई नहीं है, वहाँ पहुँचने के लिए उसे पैरों की आवश्यकता पड़ती है। बाहर पड़ी वस्तु को उठाने के लिए हाथों की आवश्यकता होती है, स्वयं हाथ को उठाने के लिए नहीं। परमेश्वर तो सर्वव्यापक होने से सृष्टि के कण-कण में विद्यमान है। सम्पूर्ण जगत् उसके अन्तर्गत है। इसलिए अपने से बाहर उसे कुछ भी नहीं करना पड़ता। फिर उसे शरीर की आवश्यकता क्यों होगी ?

   यदि परमात्मा शरीरी होगा तो वह एकदेशी हो जायेगा। एक देश में अवस्थित हो जाने पर उसका समस्त संसार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न रह सकेगा जो विश्व के संचालन तथा नियन्त्रण के लिए आवश्यक है। देहधारी कितना ही महान् और शक्तिशाली क्यों न हो उसके सामर्थ्य की सीमा कहीं न कहीं अवश्य होगी। विश्व की विशालता को देखते हुए यह असम्भव है कि कोई शरीरधारी एकदेशी उसकी उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय कर सके।

   यदि बिना शरीर के कोई रचना नहीं कर सकता तो शरीरधारी परमेश्वर के आँख, कान, आदि बनाकर उसे बनाने वाला

नास्तिक—हाथ-पैर तो उपलक्षण मात्र हैं, व्याप्ति तो शरीर की है—अर्थात् कर्त्ता शरीरी होना चाहिए।

आस्तिक—अच्छा यही सही। शरीर के साथ ज्ञान की भी

उससे भिन्न कोई शरीरधारी पुरुष होना चाहिए। फिर उस पुरुष की रचना करने वाला उससे भिन्न कोई और पुरुष होना चाहिए। इस प्रकार करते-करते अनवस्थादोष आ जायेगा। यह निर्विवाद है कि जो शरीर जिस पुरुष से सम्बद्ध होता है, उसका निर्माता वह पुरुष स्वयं नहीं हो सकता।

इस पर कोई कह सकता है कि "कोई पुरुष स्वयं अपने शरीर का निर्माता नहीं हो सकता अस्मदादि के लिए ठीक हो सकता है; किन्तु सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान लिया जाय कि परमेश्वर ने स्वयं अपना शरीर बना लिया तो भी शरीर धारण करने से पूर्व उसका अकाय होना सिद्ध हो गया। फिर, यदि ब्रह्मपुरुष अपने शरीर की रचना स्वयं शरीरी हुए बिना कर सकता है तो बिना शरीर के जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय क्यों नहीं कर सकता ?

किसी तत्त्व के पिण्ड का विभाग करते-करते जो अन्तिम खण्ड या कण है, दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति के समय वही परमाणु या मूल तत्त्व है। ऐसे ही परमाणुओं से सृष्टि का निर्माण होता है। इतने सूक्ष्मतम परमाणु को हाथ से पकड़ने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। तब उनके द्वारा संयोग-वियोग की क्रिया कैसे सम्भव है ? निश्चय ही उनके संयोग-वियोग के द्वारा सृष्टि का निर्माण करने वाली चेतन सत्ता का परमाणुओं के भीतर व्याप्त होना आवश्यक है। ऐसी सत्ता शरीरी नहीं हो सकती।

ईश्वर को प्रकृति का अधिष्ठाता माना जाता है। जब वह स्वयं अपने अस्तित्व—शरीर के लिए उस पर आश्रित और उसके विकारों से प्रभावित होगा तो वह उसका नियामक होने का दावा किस मुँह से कर सकेगा ?

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इस न्याय के अनुसार जब उसका जन्म (निर्माण) होगा तो एक दिन वह मरेगा भी अवश्य। जब मरेगा तो 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' के अनुसार फिर पैदा होगा। तब वह अस्मदादि के समान आवागमन के सदा आवर्त्तमान चक्र में फँस जायेगा।

व्याप्ति है या नहीं—अर्थात् कर्त्ता शरीरी भी हो और ज्ञानवान् भी हो।

नास्तिक—अवश्य है।

आस्तिक—तब आप बताइए, आपके हाथ-पैरों को किस ज्ञानवान् कर्त्ता ने बनाया है ?

नास्तिक—माता ने।

आस्तिक—क्या आपकी माता को इसका ज्ञान है कि आपकी आँखें कैसे बनी हैं ?

नास्तिक—ज्ञान चाहे न हो किन्तु बिना शरीर के तो आँखें नहीं बनीं।

आस्तिक—बिना शरीर के तो नहीं बनीं, किन्तु बनाईं किसने, प्रश्न तो यह है। माता को तो कह नहीं सकते क्योंकि उसे ज्ञान नहीं, और बिना ज्ञान के वह बना नहीं सकती। जब माता ने नहीं बनाईं तो जिसने बनाईं उसका नाम आप लें—यदि आप कहें प्रकृति ने बनाईं, तो वह जड़ होने और ज्ञानरहित होने से बना नहीं सकती। यदि आप कहें कि माता के गर्भ में स्थित आत्मा ने बनाईं, तो वह शरीरी नहीं है अतः बना नहीं सकता। अतः आप बतावें गर्भस्थ बालक की आँखें किसने बनाईं ?

नास्तिक—तो क्या माता बालक के बनाने का कारण नहीं हैं ?

आस्तिक—है, किन्तु गर्भ में पोषण ही करने का वह साधन है, अन्य कोई वस्तु वह नहीं बनाती। चेतन आत्मा और जड़ प्रकृति को लेकर परमात्मा अपनी शक्ति द्वारा उसे बनाता है जो सर्वथा शरीर-रहित है।

नास्तिक—मेरा तात्पर्य यह है कि जैसे आत्मा बिना शरीर के कुछ नहीं कर सकता, ऐसे परमात्मा भी बिना शरीर के कुछ

नहीं बना सकता। क्या आप बता सकते हैं कि अमुक आत्मा ने बिना शरीर की सहायता के अमुक वस्तु बनाई ?

आस्तिक—आत्मा बिना शरीर के अपने शरीर को बनाता है कि नहीं ?

नास्तिक—उसे तो माता का शरीर बनाता है ?

आस्तिक—तो क्या बिना आत्मा के भी माता शरीर बना सकती है ?

नास्तिक—तो क्या बिना माता के शरीर के आत्मा केवल अपनी शक्ति से शरीर बना सकता है ?

आस्तिक—हाँ, बना सकता है, यद्यपि बनाने वाला ईश्वर ही है किन्तु वह चेतन आत्मा के साथ प्राकृतिक सामग्री से बिना माता के शरीर के भी बना सकता है। देखो, जरायुज योनियों में तो बच्चा गर्भ में माता के शरीर में बनता भी है किन्तु अण्डजों में तो बाहर आकर बिना किसी अवयव के लगाए ईश्वर की सामर्थ्य से उसमें बच्चा बन जाता है। किन्तु आगे देखो, स्वेदजों में तो न माता का गर्भाशय, न माता का शरीर कुछ भी न होने पर केवल परमात्मा की अनन्त सामर्थ्य से अनेक जीवों की अमैथुनी सृष्टि होती है—जैसी कि सृष्टि के आदि में होती है। वहाँ तो और किसी का संसर्ग है ही नहीं।

नास्तिक—हाँ, यह तो ठीक है किन्तु वहाँ भी पञ्चभूतों के समुदाय से ही सृष्टि होती है।

आस्तिक—तो यह किसने कहा है कि ईश्वर अभाव से भाव करता है ? वह भी परमाणुओं से ही सृष्टि बनाता है।

मुसलमान—हमारे सिद्धान्त में अभाव से ही खुदा इस दुनिया को बनाता है जैसे दियासलाई में अभाव से अग्नि उत्पन्न हो जाती है।

आस्तिक—यह दृष्टान्त ठीक नहीं है—दियासलाई में सूक्ष्म रूप से अग्नि रहती है। यदि ऐसा न मानो तो बताओ, इस होल्डर के रगड़ने से अग्नि क्यों नहीं निकलती, क्योंकि अभाव अग्नि का दोनों जगह विद्यमान है।

मुसलमान—फिर वह दीखती क्यों नहीं ?

आस्तिक—सूक्ष्म होने से, जैसे बट के बीज में बट के उत्पन्न करने की सूक्ष्म शक्ति रहती है ऐसे ही दियासलाई में भी रहती है, हाँ, वह दीखती नहीं है।

नास्तिक—तो क्या शरीरी कर्त्ता की व्याप्ति कर्त्तृत्व के साथ नहीं है ?

आस्तिक—यह सर्वत्र नियम नहीं है। देखो, लाखों वृक्ष प्रतिदिन बनते हैं, वहाँ कौन शरीरी कर्त्ता है ?

नास्तिक—इनको पञ्चभूत बनाते हैं।

आस्तिक—तो क्या पञ्चभूत शरीरी हैं ?

नास्तिक—नहीं ! मैं कहता हूँ कि इनमें भी जीवात्मा है जो पञ्चभूतों के द्वारा अङ्कुर बनाता है।

आस्तिक—तो परमात्मा भी परमाणुओं द्वारा सृष्टि बनाता है किन्तु वृक्ष-स्थित जीवात्मा कुम्हार के तुल्य तो शरीरी बनकर वृक्ष नहीं बनाता।

नास्तिक—यदि मैं वृक्ष में आत्मा मानकर यह मान लूँ कि पञ्चभूत ही वृक्ष बनाते हैं तो क्या उत्तर है ?

आस्तिक—तो फिर पञ्चभूत शरीरी होने चाहिएँ क्योंकि आप कह चुके हैं कि प्रत्येक कार्य शरीरी कर्त्ता से ही बनता है।

नास्तिक—अच्छा, स्वभाव से ही वृक्ष बनता है।

आस्तिक—तो अब स्वभाव शरीरी हुआ इसलिए आपका कथन सर्वथा युक्तिशून्य है कि कर्त्ता शरीरी अवश्य होना चाहिए।

नास्तिक—अच्छा; शरीर की व्यप्ति न भी हो तब भी कर्त्ता के साथ ज्ञान की व्याप्ति तो अवश्य है ? यदि यह ब्रह्माण्ड किसी सर्वज्ञ कर्ता से बना है तो फिर उसने यह बेडौल ऊँची-नीची पृथिवी, सुनसान पर्वत, भयानक जंगल, बेडौल समुद्र क्यों बनाए ? कोई मनुष्य अन्धा, कोई काणा, कोई लँगड़ा, कोई कोढ़ी क्यों बनाया ? सिर बनाया तो उसके पीछे दो आँखें और क्यों न बनाईं ? बड़े वक्षों पर छोटे-छोटे फल और छोटों पर बड़े-बड़े क्यों बनाए, बेरों में काँटे और आम बिना काँटे के क्यों बनाए ? गन्ने पर फल क्यों न लगा दिये ? इत्यादि लाखों प्रश्न हो सकते हैं जिनसे पता लग सकता है कि यह संसार इसी प्रकार ऊल-जलूल चल रहा है। इसका निर्माता कोई ज्ञानवान् नहीं है।

आस्तिक—जिन बातों से यह ब्रह्माण्ड किसी सर्वज्ञ द्वारा बना सिद्ध होता है, उनसे आप यह सिद्ध करना चाहते हैं कि इसका कर्त्ता कोई नहीं है किन्तु **'नैष स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति'** यह ठूँठ का दोष नहीं है जो उसे अन्धा नहीं देखता। यदि आप सर्वज्ञ होते तो आप उस सर्वज्ञ की कृति को समझ सकते ? मैं आपसे पूछता हूँ कि आपने इन बातों से यह तो अनुमान किया कि इस ब्रह्माण्ड का कोई नियामक नहीं है किन्तु नियमित ब्रह्माण्ड के नियमपूर्वक भ्रमण को देखकर आपको यह विचार क्यों उत्पन्न नहीं हुआ कि यह नियम बिना चेतन सर्वज्ञ के किसी जड़ के द्वारा नहीं बन सकता ? आप जरा सूर्य सिद्धान्त को देखिए,

मध्ये समन्तादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।
बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम्॥

अर्थात् परम ब्रह्म की धारणात्मक महाशक्ति से जकड़ा हुआ यह भूगोल आकाश प्रदेश के बीच में निराधार ठहरा हुआ है।

नास्तिक—यदि यह पृथिवी निराधार टिकी हुई है तो गिरती क्यों नहीं ?

आस्तिक—हाँ, इस प्रश्न का भी उत्तर देखिए श्रीमान् भास्कराचार्य क्या देते हैं—

आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत्खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात्क्व पतत्वियं खे॥

अर्थात् पृथिवी में आकर्षण शक्ति है इसी से आकाश में रहने वाला भारी पदार्थ अपनी ओर खिच जाता है, अर्थात् वह वस्तु नीचे गिरती-सी मालूम देती है किन्तु पृथिवी के तो चारों ओर केवल आकाश ही विद्यमान है, यह बताओ, किधर को गिरे ? यदि आप कहें यह हमारे नीचे को गिरे तो इसी तरह नीचे के लोग कहेंगे हमारे नीचे को गिरे क्योंकि पृथिवी तो सारी दिशाओं में रहने वालों के ही नीचे ही है अतः वह कहीं को भी नहीं गिर सकती। नास्तिको ! क्या इस अचिन्त्य, अनिर्वचनीय, नियमित कार्य को होता हुआ देखकर भी तुमको यह ध्यान नहीं आता कि इसका कोई सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् नियन्ता अवश्य होना चाहिए जिसके बल से यह विशाल ब्रह्माण्ड अविच्छिन्न गति से चल रहा है ?

नास्तिक—ब्रह्माण्ड विशाल तो है किन्तु इतने मात्र से एक विशाल ईश्वर की कल्पना कैसे हो सकती है ?

आस्तिक—ब्रह्माण्ड की विशालता मात्र से तुम ईश्वर का अनुमान मत करो किन्तु इसके नियमपूर्वक चलने पर ध्यान दो, और इसके भ्रमण पर विचार करो—देखो, पृथिवी की अपेक्षा सूर्य १३ लाख चौवन हजार नौ सौ छत्तीस गुना बड़ा है। और सूर्य से पृथिवी का अन्तर ९ करोड़ २७ लाख मील है, अर्थात् सूर्य के सामने हमारी यह पृथ्वी इतनी छोटी है जैसे हमारे

शरीर में १ रोम—फिर कितने ही अचल तारे बहुत बड़े-बड़े हैं यहाँ तक कि वे सूर्य से भी बड़े प्रचण्ड, महाकाय एवं प्रकाश वाले हैं, और फिर असंख्य हैं। अब गति पर ध्यान दो। इस भीमकाय सूर्य का प्रकाश हम तक साढ़े सात मिनिट में ही इतनी दूरी पर आ जाता है किन्तु इन तारों के प्रकाश आने में सत्रह सौ वर्ष लग जाते हैं। इससे अनुमान कीजिए कि वे कितनी दूरी पर और कितने विशाल होंगे। अब देखो, पृथिवी का व्यास ७९२६ मील है और सूर्य का ८,८७,८५० और चन्द्रमा का २१६०, मंगल का ४३, १६०, शुक्र का ७५२४, शनि का ७२, ४४८ मील है, अब पृथिवी तल के वर्ग मील १९,७३,३६,५९५ हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने इस पृथिवी की तोल ५,८५,२०,००,००, ००,००,००,००,००,००,० टन सिद्ध की है। १ टन २७ मन का होता है। और फिर इस पृथिवी से बृहस्पति १४३६ गुना अधिक है और इससे भी बढ़कर सूर्य का तोल तीन लाख गुना अधिक है और उसका प्रकाश आठ लाख पूर्ण चन्द्रमा के बराबर है। अब विचार करो कि इतनी बड़ी, इतनी भारी, इतनी मोटी, ज़ड़ पृथिवी अत्यन्त तीव्र वेग से सूर्य के चारों ओर आकाश में घूमती रहती है और कभी अन्तर नहीं पड़ता, तथा हमको यह पता भी नहीं चलता कि पृथिवी घूम रही है, अब जो इतने विशाल ब्रह्माण्ड चक्र को अनायास घुमा रहा है, न कोई ग्रह किसी से टक्कर खाता है न कोई इधर-उधर गिरता है, उसके लिए यह कहना कि उसने ज्ञानपूर्वक सृष्टि नहीं बनायी, कितनी भारी अज्ञता है।

नास्तिक—यह ब्रह्माण्ड नियमपूर्वक भ्रमण करता है यह तो ठीक है, किन्तु जो बात अज्ञानमूलक है वह तो कही ही जाएगी। क्या आप बता सकते हैं कि ऊपर की बातें अज्ञान-

मूलक नहीं हैं ?

आस्तिक—नहीं, यह आपकी बुद्धि का दोष है। वे सब बातें यथार्थ हैं। देखिए यदि मनुष्य के चार आँखें होतीं तो आप पुनः प्रश्न करते ६ क्यों नहीं बनाईं, यदि बगल में २ और होतीं तो आप कहते ८ होनी चाहिएँ। फिर आप कहते, पैरों में क्यों नहीं बनाईं ? भला हम आपसे पूछते हैं, दो में दोष क्या है, पीछे को देखने के लिए तो मनुष्य गर्दन और पैर घुमाकर मुड़ सकता है किन्तु विचार कीजिए यदि ४ आँखें होतीं तो और इन्द्रियाँ भी दुगुनी होतीं, फिर हाथ-पैर भी ४-४ होते, तब कभी-कभी ऐसा होता कि किसी सुन्दर दृश्य के देखने के लिए कोई आँख इधर को खींचती कोई उधर को, इस प्रकार कितनी अव्यवस्था होती ? यदि एक मनुष्य पूर्व को चलता तो पश्चिम के दो पैर लटकते चलते, यदि आप कहें नहीं, आँखें ही चार होतीं तो पैरों के दो रहते ४ होना व्यर्थ था क्योंकि आँखों के बता देने पर भी कि अमुक शत्रु आ रहा है पैरों को घूमना पड़ता, न घूमने पर शत्रु आँखें ही फोड़ डालता, मल्लयुद्ध में सिर के बल गिरने पर यदि कोई कड़ी वस्तु नीचे आ जाती तो आँखें फूट जातीं, हाथ पिछली आँखों को साथ न कर सकते। इस प्रकार एक ही अव्यवस्था से अनन्त दूषण शरीर की रचना में आ जाते— कोई-कोई कहते हैं कि सोने में गन्ध क्यों नहीं बनाई, हम कहते हैं सोने में भी सूक्ष्म गन्ध है और उतनी ही गन्ध है जितना उसमें पृथिवी का भाग है। तेजोंऽश अधिक होने से प्रतीति नहीं होती, सोना ही क्या, चाँदी, ताँबा पीतल, हीरे-जवाहरात वग़ैरह किसी में भी प्रतीति नहीं होती किन्तु जब गन्ध पृथिवी का गुण है तब यह कौन कह सकता है कि इनमें गन्ध नहीं है ? इसी प्रकार पृथिवी को बेडौल बताना, जंगल और पहाड़ों की

व्यर्थ बताना व्यर्थ है क्योंकि इन पर्वतों के कारण ही यहाँ वर्षा होती है, नदियाँ निकलती हैं, अनेक औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, पृथिवी के ऊँची-नीची होने से ही नदियाँ एक सीमा में चलती हैं, जाड़े और गर्मी का पृथक्-पृथक् असर पड़ता है—इस प्रकार विचारने से उस विश्वकर्मा के कौशल का ही ज्ञान होता है, न कि इसका कि इसका रचयिता कोई नहीं है। नास्तिकों का एक यह भी आक्षेप है कि जब ईश्वर सर्वशक्ति-सम्पन्न है तो उसने सब मनुष्यों को उत्तम ही क्यों नहीं बनाया ? लँगड़ा, लूला, कोढ़ी दरिद्री क्यों बनाया ? यह आक्षेप मुसलमानों पर तो हो सकता है जो मानते हैं कि खुदा ने बिना किसी हेतु के सारे विश्व की रचना की है, न आत्माएँ थीं, न कर्म थे। कुछ न था और सब कुछ हो गया, किन्तु जब कर्मानुसार सृष्टि की रचना मानी जाती है तब यह दोष नहीं रहता। परमात्मा ने लँगड़े-लूले स्वतः नहीं बनाए, उनके कर्मानुसार ही बनाए हैं। जैसे जो कर्म करता है उसके लिए वैसा ही शरीर, वैसा ही भोग, वैसा ही स्थान, सब कुछ उन कर्मों के तुल्य ही मिलता है, जिस तरह गवर्नमेण्ट अनेक प्रकार के कैदखाने कैदियों के लिए बनाती है, ऐसी ही व्यवस्था ईश्वर की है। इसलिए उसकी रचना का एक परमाणु भी व्यर्थ नहीं है, उसको समझने का प्रयत्न करो, **'तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'** यहाँ तक संक्षेप से इस विश्व का रचयिता कोई अवश्य होना चाहिए इसका वर्णन किया गया—अब आगे जीवों के कर्मों का फलदाता कोई अवश्य होना चाहिए, इसका वर्णन करेंगे।

जीवों के कर्मों का फल देने वाला कोई सर्वज्ञ अवश्य होना चाहिए।

यह दूसरा हेतु है परमात्मा की सिद्धि में, इस पर भी

नास्तिक विद्वान् यह शंका करते हैं कि कर्मों के फल तो स्वयं कर्म दे सकते हैं, उनके लिए किसी सर्वज्ञ की आवश्यकता नहीं है—श्रीयुत मुनि लब्धिविजयजी अपने दयानन्द कुतर्क तिमिर तरणि नामक ग्रन्थ के १२वें पृष्ठ पर लिखते हैं कि "यदि कहो कि कर्म जड़ हैं तो यथा अफीम और संखिया आदि भी जड़ पदार्थों के खाने से प्राणनाश और ब्राह्मी आदि बूटियों के खाने से बुद्धि बढ़ती है वैसे ही कर्म जड़ हैं तथापि उनको शुभाशुभ फल देने की सामर्थ्य है। बालचन्द्र जी की लिखी जगत्कर्तृत्व-मीमांसा तथा अन्यान्य विद्वानों की लिखी पुस्तकों का भी यही सार है कि कर्म स्वतः ही फल देने वाले हैं, उनके लिए ईश्वर की आवश्यकता कुछ नहीं। अब इस विषय पर विचार करना चाहिए।

आस्तिक—यह मानना कि कर्म स्वतः फल दे सकते हैं ठीक नहीं, क्योंकि कर्म जड़ हैं। उनको ज्ञान नहीं है कि अमुक कर्म का फल अमुक देना चाहिए।[1]

---

१. जड़ होने से कर्म फल स्वयं नहीं दे सकते। कर्म तो फलकाल में यह भी नहीं पहचान सकते कि हम किसके कर्म हैं। ऐसी अवस्था में जिस किसी के साथ उनका सम्बन्ध हो जाने से कर्मसंकर हो जायेगा। फलतः अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे। अराजकता की ऐसी स्थिति में 'कृतहानि' (करनेवाले को फल न मिलना) और 'अकृताभ्यागम' (न करने वाले को फल मिलना) दोषों की प्राप्ति होगी।

अल्पज्ञ होने से जीवात्मा अपने समस्त कर्मों को यथावत् नहीं जान सकता और अल्पशक्ति होने के कारण अनन्त जीवों के अनन्त कर्मों का लेखा-जोखा रखकर तदनुसार फल की व्यवस्था करना उसकी शक्ति से बाहर है। कर्म करनेवाले जीव का इतना सामर्थ्य भी नहीं कि वह उन सब साधनों तथा सामग्री को जुटा सके जो फलोपभोग के लिए अपेक्षित हैं। सृष्टि-रचना का प्रयोजन पूर्वजन्मों के

नास्तिक—जड़ अवश्य हैं किन्तु हमने ऊपर कहा है कि जड़ वस्तु भी फल दे सकती है जैसे अफ़ीम नशा करती है और

फलोपभोग के लिए समुचित भूमि तैयार करना है जिसका विस्तार प्रत्येक व्यक्ति के लिए पीछे की ओर अनेक जन्मों तथा विभिन्न योनियों तक जाता है। चेतनारहित प्रकृति न तो प्रकृति की अपनी व्याख्या है, न जगत् का विषयनिष्ठ यंश है और न कर्म के विधान की क्रिया है। जब मनुष्य यह देखता है कि किस प्रकार यह पृथिवी अनेक प्रकार के कर्मों के फलों के लिए उपयुक्त सिद्ध होती है और किस तरह यह शरीर कार्य करता है जिसमें अन्दर-बाहर भिन्न-भिन्न भागों की उचित व्यवस्था प्रस्तुत की गई है और जिसका निर्माण भिन्न-भिन्न जातियों के अनुकूल किया गया है जिससे वह विविध कर्मों के फलोपभोग का उचित साधन बन सके तो यह कैसे माना जा सकता है कि यह सब व्यवस्था किसी सर्वशक्तिमान सत्ता के नियमन तथा निर्देश के बिना संभव है ?

यदि केवल कार्य ही फलोपभोग के लिए शरीर-धारण में निमित्त होते तो कोई भी जीव निकृष्ट योनियों में और मनुष्ययोनि में भी किसी दरिद्र के घर जन्म न लेता। अपने अशुभ कर्मों का फल कोई नहीं भोगना चाहता, यदि कर्म प्रतिबन्धक हो तो भी। जैसे कोई अपराधी अपराध करके स्वयं बन्दीगृह में जाना नहीं चाहता अपितु राजकीय व्यवस्था के अनुसार बलात् धकेला जाता है, वैसे ही कर्म फल की यथार्थ व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती जब तक जीवेतर कोई शक्ति इस कार्य को न करे। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' (योगसूत्र) —कर्मफल भोगने के लिए साधनरूप इस सृष्टि की रचना ईश्वर के अधीन है। यदि कोई जीव विशेष इस सृष्टि का रचयिता होता तो वह ऐसी ही वस्तुओं को बनाता जो उसके अनुकूल होतीं—जन्म, मरण वृद्धावस्था, रोग आदि विरुद्ध वस्तुओं को कभी न बनाता। कोई भी स्वतन्त्र मनुष्य अपने लिए कारागार बनाकर उसमें अपने आप नहीं जा बैठेगा—'न हि कश्चिदपरतन्त्रो बन्धनागारमात्मनः कृत्वाऽनुप्रविशति' (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य २।१।२१)।

Cp. Descartes—"If I were myself the author of my being, I should have bestowed on myself every perfection of which, I possess the idea."—Meditation, P. iii

जितनी खाओ उतना ही करती है'[1] यद्यपि अफीम को यह ज्ञान नहीं है कि इतना करना चाहिए फिर भी ठीक देती है।

आस्तिक—आपका यह उदाहरण सर्वथा व्यभिचरित है, और जिन-जिन ग्रन्थकारों ने दिया है उन्होंने बिना सोचे-समझे दिया है, मैं आपसे पूछता हूँ कि एक मनुष्य जितनी बार चोरी करता है, उसके कर्म उतनी ही बार उसको आपके सिद्धान्तानुसार दण्ड देंगे या नहीं ?

नास्तिक—हाँ, देंगे।

आस्तिक—इसी प्रकार जितनी बार मनुष्य अफीम खावे, उसे नशा अवश्य होना चाहिए।

---

१. अचेतन सत्ताएं अपने आप में न अच्छी हैं, न बुरी। यदि वस्तुओं के परिणाम केवल अपने स्वभाव पर निर्भर करते तो प्रत्येक वस्तु हर समय सब मनुष्यों को समान रूप से सुख अथवा दुःख पहुँचानेवाली होती। वस्तुतः मद मद्य में नहीं होता क्योंकि वह जड़ है। मद तो मद्य पीने वाले चेतन को होता है। यदि ऐसा न होता तो समान मात्रा में मादक द्रव्य का सेवन करने वालों को समान रूप में मद होता। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। मद्यपान के अभ्यस्त व्यक्ति को जहाँ दो रत्ती अफ़ीम या एक तोला शराब का पता तक नहीं चलता, वहाँ अनभ्यस्त व्यक्ति पागल हो जाता है, यहाँ तक कि उसका जीवन भी संकट में पड़ जाता है। यदि मद्यपान से उत्पन्न मद के समान कर्मों के स्वयं फलीभूत होने की बात मान ली जाये तो इसका अर्थ यह होगा कि नित्य बहुत अधिक पाप-पुण्य करनेवालों को कम और कभी कभी थोड़ा-बहुत पाप-पुण्य करनेवालों को बहुत अधिक फल मिलना चाहिए। परन्तु प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से यह सर्वथा असंभव अयुक्त है। नहीं हो सकते। जैसे दूध को दही का रूप देने के लिए उसमें खटाई मिलाने वाला तीसरा चेतन होता है, इसी प्रकार जीवों को अपने-अपने कर्मफल से संयुक्त करने के लिए सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् तथा न्यायकारी ईश्वर की सत्ता सर्वथा अपेक्षित है।

नास्तिक—हाँ होना चाहिए, और होता है।

आस्तिक—आप बताइए कि एक बच्चे को एक माशा अफीम देने से उसकी मृत्यु हो जाती है या नहीं ?

नास्तिक—हाँ हो जाती है।

आस्तिक—किन्तु १२० वर्ष के अफीमची को १ माशे से मरना तो दूर रहा नशा भी नहीं होता, इसका क्या कारण है ? जिस प्रकार चोरों का १ गिरोह चोरी करता है उसमें १०० वर्ष से लेकर ६० वर्ष के बूढ़े तक सम्मिलित हैं, सबने मिलकर एक ही स्थान पर माल लूटा तो सब बराबर चोर हुए, इसी प्रकार एक वर्ष से लेकर १०० वर्ष तक के मनुष्य को अफीम खिलाने का भी एक-सा फल होना चाहिए, किन्तु ऐसी बात नहीं है।

नास्तिक—यह तो अभ्यास का कारण है जो उसे नशा कम होता है।

आस्तिक—तो क्या जो मनुष्य बराबर चोरी करते-करते अभ्यासी हो जायेगा, उसे चोरी का दण्ड भी कम मिलेगा ?

नास्तिक—नहीं।

आस्तिक—क्यों ?

नास्तिक—चोरी रूप कर्म तो उसने एक-सा ही किया है, उसमें भेद नहीं है।

आस्तिक—फिर अफीम खाने रूप कर्म भी अफीमची ने एक-सा ही किया है, उसे उतना ही नशा क्यों न हो ?

नास्तिक—नशा तो उतना ही होता है किन्तु अफीमची को अभ्यास के कारण प्रतीति नहीं होती।

आस्तिक—उसको उतना ही नशा हुआ है इसमें क्या प्रमाण है ? और हुआ भी सही, नशा तो फलस्वरूप है। जब उसे उस

कर्म का उतना फल ही नहीं मिला फिर कैसे मान लें कि उतना ही नशा हुआ ?

नास्तिक—तो क्या अफीम नशा नहीं करती, आप यह सिद्ध करते हैं ?

आस्तिक—नहीं, अफीम में नशा करने का तो स्वाभाविक गुण अवश्य है किन्तु मनुष्य स्वतः उसके फल को कम या अधिक या विनष्ट भी कर सकता है इसीलिए फल प्राप्त करना चेतन के अधीन हो गया, स्वयं जड़ में शक्ति न रही।

नास्तिक—इसको स्पष्ट करके समझाइये।

आस्तिक—देखिये १० मनुष्यों ने एक साथ प्रथम-प्रथम भूल में अफीम खाई, ५ मनुष्यों के मित्रों को पता चला कि इन्होंने अफीम खा ली है अतः डाक्टर को बुलाकर उनकी दवा कराई, कै हो जाने से पाँच मनुष्य बच गये। दो मनुष्यों का पता ही न चला, दोनों मर गये। एक मनुष्य ने अफीम के साथ घी बहुत खाया जिससे उसको नशा बहुत कम हुआ, एक मनुष्य ने घी कम खाया इसलिए वह मरा तो नहीं किन्तु बावला हो गया। अब विचारिए एक काल, एक देश, एक-सी क्रिया, एक ही वस्तु को खाकर भिन्न-भिन्न फलों का होना क्या सिद्ध करता है कि अफीम के नशे रूप फल को मनुष्य चाहे कम कर दे या ज्यादा करे या अभ्यास के बल से नशा होने ही न दे—तो फल मनुष्य के हाथ में रहा या नहीं, तब आपका यह कहना कि जड़ पदार्थ शुभ और अशुभ फल स्वयं दे सकते हैं, कहाँ संगत हुआ ? अफीम चाहे जितनी चेष्टा करे, हम अपने विज्ञान बल के प्रभाव तथा औषधों के प्रभाव से नशे को रोक सकते हैं, किन्तु कर्मों के अटल नियम कभी नहीं रुकते यह आप भी मानते हैं। जैसा जिसने कर्म किया है उसका फल अवश्य भोगना ही पड़ेगा। उसमें आपका

ज्ञान, औषध-उपचार काम नहीं दे सकता ।

नास्तिक—आपका दृष्टान्त भी विषम है। देखो, १० मनुष्य चोरी करते हैं, उनमें से ४ छूट जाते हैं, २ को १ वर्ष की, १ को काला पानी और २ को ७-७ वर्ष की जेल हो जाती है। जैसे एक ही देश, एक ही काल और १ ही क्रिया करते भी सबको एक-सा फल नहीं मिलता ऐसे ही एक-सी ही अफीम खाने पर भी फल में भेद हो जाता है।

आस्तिक—इससे ही तो सिद्ध होता है कि फल के दाता कर्म नहीं बल्कि कोई और है। इसका उत्तर तो आप ही दीजिए कि जब एक से ही कर्म किए हैं तब कर्मों ने क्यों नहीं सबको समान फल दिया ?

नास्तिक—मैं ही उत्तर क्यों दूँ आप भी तो दीजिए कि जब परमात्मा फल देनेवाला है, तो उसने सबको समान फल क्यों नहीं दे दिया ?

आस्तिक—वहाँ फल का दाता ईश्वर नहीं बल्कि अल्पज्ञ अल्पशक्ति जज है जो यथार्थ जान नहीं सकता, इसलिए पग-पग पर भूल करता है।

नास्तिक—मैं भी तो यही कहता हूँ कि वहाँ फल देनेवाले कर्म नहीं हैं बल्कि जज है जो अल्पज्ञ है।

आस्तिक—जब अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, एकदेशी जज इतनी भूल करता है तो कर्म तो विचारे क्या कर सकते हैं जो सर्वथा जड़ हैं। क्या तुमको इतना भी ज्ञान नहीं है कि जज को तो जो चेतन है, ज्ञानवान् है, मूर्ख बताते हो और जो कर्म सर्वथा जड़ हैं, उनको इस विश्व का नियामक माने बैठे हो।

नास्तिक—अच्छा, थोड़ी देर के लिए यही मान लिया जाय कि ईश्वर ही सबके कर्मों का फलदाता है, तो प्रथम दूषण यह

है कि एक सेठ के यहाँ एक चोर ने चोरी की। परमात्मा को उस सेठ को फल देना है, अतः चोर को फल देने के लिए भेज दिया, अब आप बताइए चोर का इसमें अपराध क्या है ? चोरी तो ईश्वर ने कराई है, न कि चोर ने स्वयं की है। इस दशा में चोर को दण्ड के बदले कुछ पुरस्कार मिलना चाहिए, क्योंकि उसने मेहनत करके ईश्वर का ही काम किया है। इसी तरह पशु-वध करनेवाले कसाइयों को भी कुछ इनाम मिलना चाहिए क्योंकि वे ईश्वर का ही काम करते हैं, उनका दोष कुछ नहीं है।

आस्तिक—इसमें क्या प्रमाण है कि चोर परमात्मा का काम कर रहा है ?

नास्तिक—यही कि वह सेठ को फल देने जा रहा है, जिसको ईश्वर देना चाहता है।

आस्तिक—अच्छा, तो वह फिर चोरी करने में डरता क्यों है ? उसकी आत्मा में भय क्यों होता है ?

नास्तिक—अज्ञान के कारण, वह जानता नहीं कि मैं ईश्वर का काम कर रहा हूँ।

आस्तिक—जब उसमें इस बात का ज्ञान नहीं कि मुझे ईश्वर प्रेरणा कर रहा है, तो यह तो सिद्ध हो गया कि परमात्मा ने उसे प्रेरणा नहीं की, वह स्वयं अपनी इच्छा से कर रहा है। अब यह सिद्ध करना है कि वह परमात्मा के कार्य का साधक है या नहीं। हम कहते हैं कि वह अपने कर्म करने में स्वतन्त्र है, वह चोरी स्वतन्त्रता से करता है और उसके कर्म से किसी को लाभ और किसी को हानि पहुँच जाती है। यदि सेठ को उस समय दुःख प्राप्त करना है तो वह दुःख भोगता है अन्यथा घर के लोग जाग पड़ते हैं, चोर पकड़े जाते हैं या भाग जाते हैं। यदि यह

आवश्यक होता कि चोर को परमात्मा ही भेजता तो कभी कोई चोर न पकड़ा जाता, कभी कोई न जाग पाता, परमेश्वरीय कार्य अवश्य पूरा होकर रहता। और आप चोरी ही को क्यों लेते हैं? ऐसा परस्पर का सम्बन्ध और कर्मफल की शृंखला जो सर्वत्र ही पाई जाती है। माता, पिता के कर्म से सन्तान उत्पन्न होती है, फिर उसको पालते हैं, फिर उस सन्तान से अनेक प्रकार के सुख या दुःख माता-पिता भोगते हैं, उनके विवाद होते हैं, फिर उनके सम्बन्धियों के आचरणों से अनेक प्रकार के सुख दुःख होते हैं। तात्पर्य यह कि चोर ही क्या, माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र, शत्रु सभी परस्पर किसी-न-किसी सुख और दुःख के कारण हैं। कभी अपने ही लड़के से घर में आग लग जाती है और लाखों रुपये का नुकसान हो जाता है। क्या इन सब जगहों में परमात्मा प्रेरणा करता है? क्या किसी ने अनुभव किया है कि कोई प्रेरणा मुझे कर रहा है कि अमुक के घर में आग लगा दे? कदापि नहीं! जीव स्वतन्त्र रूप से कर्म करता है, उसके द्वारा किसी को सुख, किसी को दुःख पहुँच जाता है।

नास्तिक—जब जीव स्वतन्त्र रूप से कर्म करता है और जिसको सुख-दुःख प्राप्त होना है हो जाता है, फिर परमात्मा का बीच में अड़ने से क्या काम? वह क्या करता है?

आस्तिक—यदि किसी को सुख-दुःख पहुँचाना है तो उसकी व्यवस्था करना ईश्वर का काम है—जैसे एक चोर ने चोरी की, किन्तु वह उस समय नहीं पकड़ा गया। अब सोचना होगा कि वह पकड़ा क्यों नहीं गया? उसमें यही कहा जायेगा कि उस समय उसको दुःख प्राप्त करना नहीं था। और किसी चोर ने चोरी की, उसके स्थान में वह पहला आदमी पकड़ा गया, जिसने अब चोरी नहीं की तथा उसे कैद भी हो गई। तो यही कहा

जाएगा कि यह उसके पूर्वजन्म में किए कर्म का फल है। इस प्रकार विचार करने से यह जटिल समस्या हल हो सकती है।

नास्तिक—यदि इस व्यवस्था को कर्म ही कर दें तो आपकी हानि क्या है?

आस्तिक—कुछ भी नहीं, किन्तु कर्म तो जड़ हैं, उनमें ज्ञान न होने से निम्नलिखित बातें नहीं कर सकते। कर्म कैसे जान सकते हैं कि यह अमुक व्यक्ति है, इसको इतना कम या अधिक दण्ड देना चाहिए? कर्म देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों के कर्मों को कैसे जान सकते हैं क्योंकि प्रत्येक का कर्म प्रत्येक के साथ है? जैसे एक के शरीर की बात को दूसरा नहीं जान सकता ऐसे ही कर्म परस्पर न जानने के कारण एक-दूसरे के सुख-दुःख के भागी नहीं हो सकते—अर्थात् चोर के कर्म सेठ के कर्मों को नहीं जानते और सेठ के कर्म उसके कर्मों को नहीं जानते, फिर चोर के कर्म सेठ के घर चोरी करने की प्रेरणा कैसे कर सकते हैं? परमात्मा एक है, वह सबके कर्मों को जानकर व्यवस्था कर देता है।

नास्तिक—अच्छा! प्रथम आप यह बतावें कि आपके सिद्धान्तानुसार कर्म तो क्रिया का नाम है, क्रिया करने के बाद नष्ट हो जाती है, फिर परमात्मा किस आधार पर सुख या दुःख देता है?

आस्तिक—मनुष्य जो कुछ करता है उसका संस्कार उसकी आत्मा के साथ रहता है, उसके अनुसार ही उसको सुख या दुःख मिलता है।[1]

---

१. पक्वः पक्तारं पुनराविशाति।—अथर्व १२।३।४८

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥—महाभारत

नास्तिक—संस्कार द्रव्य है या गुण ? नित्य है या अनित्य ? सादि है या अनादि ?

आस्तिक—संस्कार अनित्य स्वरूप से सादि और प्रवाह से अनादि गुण है।

नास्तिक—जो संस्कार आज उत्पन्न होता है, वह पहले था कि नहीं ?

आस्तिक—हो सकता है हो, और न भी हो, जैसे किसी ने चोरी की, उसका संस्कार रहा, फिर कर ली, फिर और हो गया और जो उसने प्रथम ही प्रथम चोरी की तो पहले नहीं था यही मानना पड़ता है।

नास्तिक—जब एक कर्म का उसे दण्ड मिल गया, तब वह संस्कार नष्ट हो गया कि नहीं ?

आस्तिक—संस्कार नष्ट हो भी जाता है और नहीं भी होता। और कभी-कभी एक संस्कार से दूसरा दब भी जाता है; जैसे किसी चोर को जब उसका दण्ड मिल गया तो उसने प्रण कर लिया कि अब चोरी नहीं करूँगा, किन्तु उसको यह याद सारे जन्म रहता है कि मैंने चोरी की थी।

नास्तिक—इस प्रकार तो संस्कार सारे नष्ट होंगे ही नहीं।

आस्तिक—होंगे क्यों नहीं ? ज्ञानरूप अग्नि से कर्म और उनके संस्कार सब नष्ट हो जाते हैं—'ज्ञानाग्निः दग्धकर्माणि'। इसके अतिरिक्त 'तमाहुः पण्डितं बुधाः' हमने जिस व्यवस्था का

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दते मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति॥
—म० भा० शा० प० १५।६५

येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रपेदिरे।
तान्येव हि प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥—महाभारत

ऊपर वर्णन किया है वही सब तुमको भी माननी पड़ती है।

नास्तिक—कैसे ?

आस्तिक—तुमने कहा था कि चोर से चोरी यदि ईश्वर कराता है तो चोर का क्या दोष है ? हम पूछते हैं कि ईश्वर न सही, कर्म ही कराते सही, फिर भी चोर का क्या दोष है ? वह कह सकता है मैं क्या करूँ मुझसे तो कर्म कराते हैं, चाहे कर्म हो चाहे ईश्वर हो या कोई और हो यदि चोर का प्रेरक और उसके कर्म करानेवाला कोई अन्य होगा, तो चोर कभी अपराधी नहीं ठहरेगा। यही कारण है कि करनेवाला वैदिक सिद्धान्त में स्वतन्त्र है, कर्म जड़ हैं वे फल दे नहीं सकते अतः ईश्वर एक ऐसी शक्ति माननी अवश्य पड़ती है जो कर्मफल की व्यवस्थापक है।

नास्तिक—अच्छा सही, अब आप यह बतावें, ईश्वर दयालु है कि नहीं ?

आस्तिक—हाँ है।

नास्तिक—और वह भूत, भविष्यत् वर्तमान, सब-कुछ जानता भी है तब वह चोर के चोरी के विचार को जानकर भी उसे कुमार्ग से क्यों नहीं रोक देता ? देखो, गवर्नमेंट जब किसी को चोरी करते देखती है तब उसी समय रोक देती है ऐसे ही यदि ईश्वर चोर को रोक दे तो चोरी ही न हो और यदि वह जान-बूझकर नहीं रोकता तो न तो वह दयालु है और न जीवों का पिता हो सकता है। यदि वह उनके कर्मों को पहले से नहीं जानता तो वह सर्वज्ञ नहीं, यदि उससे चोर रुक नहीं सकता तो वह सर्वशक्तिमान् भी नहीं है।

आस्तिक—ईश्वर सर्वत्र विद्यमान होने से आत्मा में भी विद्यमान है, वह हमारे सब बुरे और भले कर्मों और विचारों का साक्षी है। वह दयालु है इसीलिए तो उसने दया करके अपने

ज्ञान का भण्डार वेद हमें सौंप दिया है जहाँ स्पष्ट तौर से लिखा है, 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'[1]—किसी का धन मत चुराओ ! किन्तु आप कहेंगे कि हम वेद को न तो जानते हैं और न मानते हैं, न सही, विचार कीजिए कि जब कोई मनुष्य बिलकुल छिपकर एकान्त में भी, जहाँ किसी का भय नहीं, कोई कुकर्म करता है तब भी उसकी आत्मा में भय होता है; एवं कोई शुभ कार्य करता है, तो आनन्द आता है। अब विचारिये कि वहाँ कोई नहीं है अतः उसे भय न होना चाहिए और आप कहें कि आत्मा स्वयं भय का दाता है सो भी ठीक नहीं। आत्मा तो प्रेरक ही है, उसे अपने से ही कैसे भय होगा ? इससे सिद्ध है कि ईश्वर ही वहाँ प्रेरक है। अब आप कहें कि पुनः ईश्वर चोर को रोक ही क्यों नहीं देता ? इसका उत्तर यही है कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, ईश्वर का काम है भले और बुरे का ज्ञान करा देना, सो वेदों में उपदेश द्वारा और मन में उत्पन्न भय के द्वारा वह ज्ञान करा देता[2] है किन्तु जीव की स्वतन्त्रता का विघातक नहीं

१. यजुर्वेद ४०।१

२. जब आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को किसी अच्छे काम में लगाता है तो आत्मा में निर्भयता, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। इसके विपरीत जब वह किसी दुष्कर्म में प्रवृत्त होने लगता है तो उसके भीतर भय, शंका और लज्जा के भाव उठते हैं। परमात्मा की प्रेरणा के कारण होता है।—स्वामी दयानन्द सरस्वती

The sinner in the lowest depths of degradation has the light in him which he cannot put out though he may try to stifle it and turn away from it. God holds us, fallen though we may be, by the roots of our being and is ready to send his rays of light into our dark and rebellious hearts.—Radhakrishnn : Hindu view of life.

The world consists of choosing individuals who may be influenced but not controlled.

होता, यदि हो तो, फिर जीव कोई दोषी ही न हो, किसी-किसी का यह सिद्धान्त है कि—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयमेव विनश्यति॥
यः कर्त्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च।
संसर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षणम्॥

अर्थात् जीव स्वयं ही कर्त्ता है और स्वयं ही उसके फल को भोग लेता है, यहाँ प्रश्न होता है कि ऐसा कौन-सा जीव है जो चोरी करके स्वयं जेल में चला जाता हो? जो व्यभिचार करके स्वयं शरीर में व्याधि उत्पन्न करना चाहता हो? श्रीयुत मुनिलब्धि विजय जी ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है कि यदि पाप का फल जीव स्वयं न भोगना चाहे तो न चाहे किन्तु पुण्य का फल तो वह चाहता ही है। इसका भी उत्तर यही है कि चाहने मात्र से उसे फल नहीं मिल सकता और यदि मिल जाया करे तो मैं या आप क्यों चक्रवर्त्ती राज्य नहीं चाहते? फिर यह मिलता क्यों नहीं और बहुत से कोढ़ी क्या यह कहते नहीं सुने जाते कि परमात्मा हमको उठा ले किन्तु वे मरते नहीं। इसका आशय यही है कि कर्म हमारे अधीन हैं, फल देना दूसरे ही किसी के अधीन है।

नास्तिक—अच्छा यही सही। आप यह बताइए कि ईश्वर दूसरे को दण्ड देने की इच्छा भी करता है या नहीं, यदि करता है तो वह इच्छा नित्य है या अनित्य? नित्य तो वह हो नहीं सकती क्योंकि प्रतिक्षण जीवों के कर्मों के अनुसार बदलती रहती है अतः अनित्य है। वह नित्येच्छ न रहा, तब वह विकारी क्यों नहीं—दूसरे, बुरे कर्म से उसे क्रोध और ग्लानि भी अवश्य ही होगी, भले कर्म से उसे प्रसन्नता होनी भी अनिवार्य है तब वह

संसारी जीवों ही के समान रहा, बल्कि उनसे भी बुरा रहा, क्योंकि अनन्त जीवों का दुःख उसपर आ पड़ा।

आस्तिक—आपका कथन युक्तिशून्य है। इच्छा, द्वेष, वैर, मात्सर्य, क्षणिक आनन्द, क्रोध आदि अन्तःकरण के धर्म हैं, अन्तःकरण रहित ईश्वर में ये नहीं घटते, न उसकी इच्छाएँ प्रतिक्षण बदलती हैं, उसकी व्यवस्था नित्य है, ऐसा करने से ऐसा फल मिलता है, ऐसा नित्य नियम है इसमें इच्छा करने की आवश्यकता क्या है, जो जैसा करता है वह वैसा फल भोग लेता है। किसी के बुरे कर्म से उसे दुःख और भले से आनन्द नहीं होता। जैसे जज यद्यपि प्रतिदिन अनेक मनुष्यों को फाँसी और कैद की सजा देता है किन्तु वह उनके लिए कभी नहीं रोता। और जैसे सरकारी खजांची के पास प्रतिदिन लखों रुपया आता है किन्तु उसे उससे आनन्द नहीं होता, क्योंकि उस रुपए से उसका कोई निजी सम्बन्ध नहीं है, इसी तरह परमात्मा का किसी बुरे-भले कर्म से सम्बन्ध न होने से उसे सुख-दुःख नहीं होते। इसके सिवाय वह आनन्दस्वरूप है। जब उसका स्वरूप ही आनन्द है, तब उसमें दुःखादि क्लेशों के प्रवेश का स्थान कहाँ है?

नास्तिक—आप यह बतावें कि ईश्वर विरक्त है या मोही, क्योंकि प्रत्येक चेतन की ये दो दशाएँ अवश्य ही होती हैं। यदि वह विरक्त है तो संसार के झगड़े में क्यों पड़ता है? यदि वह मोही है तब जगत् बना क्या सकता है?

आस्तिक—यह भी आपका कथन युक्ति-विरुद्ध है। क्योंकि विरक्त वह हो सकता है जो कभी रक्त होता है। जब ईश्वर कभी रक्त ही नहीं हुआ, तब विरक्त कैसे हो? दूसरे, मोहादि

धर्म अन्तःकरण के हैं, अन्तःकरण-रहित में वे घटते नहीं।[1]

नास्तिक—जब वह सारे झगड़ों में फैला है तब उसे मोही और रक्त क्यों न कहा जाय ? बिना अन्तःकरण के उसमें सब धर्म भी होने चाहिएँ।

आस्तिक—यह कथन युक्तिविरुद्ध है। निश्चय है कि बिना कार्य के कारण नहीं होता तब बिना कारण अन्तःकरण के कार्य अर्थात् मोहादि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? और यदि होने लगें तो तीर्थङ्करादि सिद्ध लोगों में भी बिना किसी कारण के अशुद्धि अज्ञान, प्रमाद, वैर, विरोधादि धर्म क्यों न उत्पन्न हो जावे ?

नास्तिक—उनमें थे किन्तु नष्ट हो चुके। अब वे संसारी झगड़ों में नहीं हैं अतः उनमें वे धर्म भी नहीं रहे।

आस्तिक—मोहादि न रहने का कारण अन्तःकरण-राहित्य को मानते हो या संसार में न रहने को मानते हो ?

नास्तिक—मोहादि न रहने के कारण ज्ञान है और फिर अन्तःकरण-राहित्य। अतएव वे संसार में नहीं फँसते।

आस्तिक—तो सिद्ध हुआ कि संसार में फँसने का कारण अज्ञान है—तो जो नित्यज्ञान स्वरूप है, जिसमें अज्ञान लवलेश भी नहीं, उसमें मोहादि कैसे उत्पन्न होंगे ?

नास्तिक—मैं यह कब कहता हूँ कि उसमें हैं ? मैं तो कार्य से कारण का अनुमान कर रहा हूँ। मैं तो यह कहता हूँ कि

---

१. **प्रश्न**—परमेश्वर रागी है वा विरक्त ?

उत्तर—दोनों ही नहीं। क्योंकि 'राग' अपने से भिन्न उत्तम पदार्थों में होता है। सो परमेश्वर से कोई पदार्थ पृथक् वा उत्तम नहीं है। इसलिए उसमें राग सम्भव नहीं। और जो प्राप्त को छोड़ देवे उसको 'विरक्त' कहते हैं। ईश्वर व्यापक होने से किसी पदार्थ को छोड़ ही नहीं सकता, इसलिए विरक्त भी नहीं।—सत्यार्थप्रकाश

यदि उसका सम्पर्क प्रकृति से है तो उसमें प्रमादादि होने चाहिएँ।

आस्तिक—सम्पर्क का क्या अर्थ है ?

नास्तिक—मेल।

आस्तिक—यदि उसके साथ आकाश का सम्पर्क है तो वह प्रमादी हुआ।

नास्तिक—हाँ, उसमें आकाशगत धर्म आने चाहिएँ।

आस्तिक—तो, सिद्धशिला भी आकाश में है और तीर्थङ्करादि का भी सम्पर्क आकाश के साथ है, फिर उनमें वे दूषण क्यों नहीं आ जाते ?

नास्तिक—नहीं, मेरा तात्पर्य यह है कि यदि आकाशादि के साथ ऐसा सम्बन्ध हो जो उनमें कुछ वैशिष्टय उत्पन्न करे।

आस्तिक—कुछ करे या न करे, जब व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है तब तीर्थङ्करों के साथ सम्पर्क हुआ फिर आकाशगत प्रकृति के अचेतनत्व, अज्ञत्व, अशुद्धि, जड़त्वादि धर्म उनमें क्यों न आवें ? इसका क्या उत्तर है ?

नास्तिक—मैं कह नहीं सकता, आने तो चाहिए।

आस्तिक—नहीं, नहीं आ सकते। प्रथम तो परमात्मा सब प्रकृति की वस्तुओं से अत्यन्त सूक्ष्म है किन्तु उसका सम्बन्ध देशगत अवश्य है अर्थात् जहाँ आकाश है वहाँ परमेश्वर भी है। किन्तु उसमें अज्ञान का अभाव है वह शुद्धचेतनस्वरूप है। अतः इन वस्तुओं के धर्म उसमें नहीं आ सकते।

नास्तिक—क्या यह नियम है या आपकी कल्पना है ?

आस्तिक—नियम है कि विभु पदार्थों में किसी भी स्थूल या अणु पदार्थ का गुण प्रविष्ट नहीं हो सकता जैसे विभु आकाश में पृथिवी, जल, तेज और वायु के गन्ध, रस, रूप और स्पर्श

प्रविष्ट नहीं होते—जैसे जीवात्मा के शरीर में रहते हुए भी शरीरगत मल दुर्गन्धादि की उसे प्रतीति नहीं होती। जब मल शरीर से बाहर आता है तब इन्द्रियों के द्वारा ही उसे प्रतीति होती है। यदि इन्द्रिय न हों तो केवल आत्मा को किसी भी पृथिव्यादि स्थूल पदार्थ का भान नहीं हो सकता इसी तरह परमात्मा उससे भी सूक्ष्म है अतः उसमें जीवात्मा के सम्बन्ध के गुण भी प्रविष्ट नहीं हो सकते। नित्य शुद्ध, बुद्ध मुक्त-स्वभाव होने से उसमें किसी वस्तु का मल आवरण, दोष प्रविष्ट नहीं होता और उसकी नित्य शक्ति फिर भी संसार को बना सकती है। इससे जो लोग यह कहते हैं कि यदि परमात्मा मल में है तो उसे दुर्गन्ध क्यों नहीं आती, निराकरण हो गया। ऊपर के उद्धरण से यह सिद्ध किया गया है कि कर्मों का फलदाता यदि ईश्वर न हो तो स्वयं जीव फल न भोग सकेगा, इसलिए जीवों के कर्मों का फलदाता अवश्य मानना पड़ेगा और वह ईश्वर है।

अब तृतीय हेतु ईश्वर की सत्ताएँ देते हैं।

किसी सर्वज्ञ द्वारा जीवों को ज्ञान मिलना चाहिए

इस पर यह कहा जाता है कि यह कोई हेतु ईश्वर की सत्ता में नहीं है, क्योंकि जीव चेतन है, उसमें स्वाभाविक ज्ञान है, वह उसकी वृद्धि करता-करता मुक्तिलाभ कर सकता है। डार्विन का विकासवाद इसके लिए बड़ी उत्तम सामग्री है। उसका सिद्धान्त है कि मनुष्य बहुत छोटी और तुच्छ अवस्था से इस अवस्था तक पहुँचा है, बहुत तुच्छ ज्ञान से क्रमप्राप्त वृद्धि करता हुआ वह इतने ऐसे चमत्कारपूर्ण आविष्कार कर पाया है। साइन्स-वेत्ताओं का विचार है कि मनुष्य की प्रकृति स्वयं

सिखाती है, उसे किसी के खास ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। नास्तिकों और खास कर जैनियों के विचार में परमेश्वर ही नहीं; फिर उसका ज्ञान और उसकी आवश्यकता के अर्थ ही क्या हैं, हाँ, परमेश्वर के स्थान में वे सिद्धों के आदेश को ही ब्रह्म-वाक्य समझते हैं। उनके प्रति हमारा कुछ कहना नहीं, क्योंकि चाहे किसीका ज्ञान मानो जो यह मानता है कि साधारण जीव के लिए ऋषि-मुनि-सिद्ध योगी-तपस्वी किसी बड़े के ज्ञान की आवश्यकता है उसके साथ कोई विवाद नहीं है, विवाद है उनके साथ जो कहते हैं कि स्वयं मनुष्य इतनी उन्नति कर सकता है, उसको किसी के भी ज्ञान की आवश्यकता नहीं। प्रश्नोत्तररूप में उनका विवाद इस प्रकार है।

नास्तिक—हम देखते हैं, अब भी दिनों-दिन मनुष्य उन्नति कर रहे हैं किन्तु किसी भी ईश्वर के ज्ञान का सहारा उनको नहीं है, न किसी ने वेद पढ़ा है। ऐसे ही इससे पूर्व भी सहारा न था और सब जीवों ने इसी प्रकार ज्ञान उत्पन्न किया था। इस-लिए ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता ही क्या है? दूसरे, ज्ञान आत्मा का नित्य गुण है। जब ज्ञान सदा ही रहेगा तो उसमें उन्नति या अवनति करना मनुष्य का स्वभाव हुआ। स्वभाव नित्य होता है अतः ज्ञान की उन्नति भी स्वाभाविक है। तीसरे, वेदों में ऐसी अनेक अनर्गल बातें हैं जो उनको ईश्वरोक्त सिद्ध नहीं करतीं। चौथे, यदि ईश्वर प्रथम-प्रथम ज्ञान देता है तो वह अब भी क्यों नहीं दे सकता? और दे सके तो मनुष्य पापी क्यों रहें? पाँचवें, वेद में इतिहास है जो उनको ऋषिकृत सिद्ध करता है। इस प्रकार छानबीन करने से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य स्वभावतः उन्नति करता चला आता है, उसे और के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

आस्तिक—उपर्युक्त कथन आपका भ्रममात्र है। ईश्वर तो हम सिद्ध कर चुके; जीवात्मा भी सिद्ध है। अब प्रश्न यह है कि अनन्त ज्ञानस्वरूप परमात्मा का ज्ञान जीव प्राप्त करते हैं या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि जीव ज्ञानस्वभाववाला होते हुए भी परिमित है, इसका ज्ञान परिमित, शक्ति परिमित और इसकी प्रत्येक वस्तु परिमित है। इसलिए परिमित ज्ञानवाला जीव अपरिमित प्रकृति और ईश्वर को स्वतः प्राप्त नहीं कर सकता। उदाहरण के लिए किसी भी बच्चे को यदि ऐसे स्थान पर छोड़ दिया जाय जहाँ किसी और का उसे संग न हो तो वह सिवाय खाने-पीने आदि साधारण कार्यों के और ज्ञानः स्वतः कभी प्रश्न न कर सकेगा। अफ्रीका के हबशी जिन तक अभी ज्ञान का प्रकाश नहीं पहुँचा, आत्मा और ईश्वर के लवलेश को भी नहीं जानते। स्वयं योरोपवासी स्त्रियों में आत्मा नहीं मानते थे और अब भी पशु-पक्षियों में आत्मा नहीं मानते—और कहते हैं कि उनमें जीवन है किन्तु आत्मा नहीं है। आत्मा उसमें है जो ईश्वर की इबादत कर सके इसलिए उनको मारकर खा जाते हैं। मुसलमानों के पैगम्बर मुहम्मद साहिब अरबों वर्ष बीत जाने पर भी आत्मा के स्वरूप को न जान सके। फिर और बातों का तो कहना क्या है। आत्मा, ईश्वर और कारणरूप प्रकृति का ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता जबतक परमात्मा उपदेष्टा न हो—वेदों में क्या है, वे कैसे हैं, सत्य हैं या असत्य हैं, यह प्रश्न दूसरा है। प्रश्न तो यह है कि मनुष्य को ज्ञान की आवश्यकता है या नहीं ? हम इसमें यह अनुमान देते हैं कि मनुष्य को अपने से बड़े किसी अन्य के ज्ञान की आवश्यकता है—अल्पज्ञ होने से पुत्र या शिष्य को, पिता या गुरु के ज्ञान की तरह। क्या आप इसका खण्डन कर सकते हैं ?

नास्तिक—मैं तो यह मानता हूँ कि आदि में मनुष्य उत्पन्न ही नहीं हुआ बल्कि बहुत छोटे कीड़े से मनुष्य की शक्ल बनी है तब उसे ज्ञान कैसे दिया ?[1]

---

१. भारत के इतिहास में विकृतियों का एक प्रमुख कारण विकासवाद या सतत प्रगतिवाद का भ्रामक मत है। आधुनिक काल में विकासवाद एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनों ही विचार-धाराओं में उसका प्रवेश हो गया है। वैज्ञानिक विचारधारा में प्राणियों की विभिन्न जातियों की उत्पत्ति में विकासवाद को मान्यता दी जाती है, और ऐतिहासिक विचारधारा में मानवी बुद्धि के विकास अथवा ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि में विकासवाद को आधार माना जाता है। साधारण दृष्टि से देखने पर यह बात ठीक-सी प्रतीत होती है; परन्तु गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।

विकासवाद के अनुसार प्राणी अथवा जीवन-तत्त्व का प्रथम आविर्भाव जलों में उद्भिज्ज के रूप में हुआ। पहले जल-मिट्टी-वायु आदि के संयोग से एक प्रकार की सूक्ष्म काई बनी। उसी से पुन: जल-वायु का विलक्षण प्रभाव प्राप्त कर समस्त जलीय तथा पृथिवी के तृण, वीरुध, लता, गुल्म, ओषधि, वनस्पति तथा विविध वृक्षों आदि का क्रमश: विकास हुआ। कालान्तर में इसी मूल जीव-बीज से सर्व-प्रथम जल में ही एक दूसरी जीवन-शाखा चली। आरम्भ में अमीबा (Amaeba–एक कोश का प्राणी) की भाँति के सूक्ष्म जलजन्तु हुए। धीरे-धीरे जलीय कीट, मछली, मेंढक, कछुआ, वराह, रीछ, बन्दर, बनमानुष आदि विभिन्न प्राणिस्तरों को पार करता तथा विकसित होता हुआ मनुष्य बन गया। आदिकालीन एक कोश के प्राणी से मनुष्य तक पहुँचने के लिए मध्य में जीवन के न जाने कितने स्तर पार किये गये। तब कहीं लाखों-करोड़ों वर्षों में मनुष्य अपने वर्तमान रूप में आया।

इस विचार के अनुसार यदि हम मनुष्य की उत्पत्ति एक करोड़ वर्ष पूर्व मानें और हैकल की 'History of Creation' के पृष्ठ २९५ में लिखी हुई प्राणियों की कड़ियों के बाद मनुष्य की उत्पत्ति मानें और प्रत्येक कड़ी को एक करोड़ वर्ष का समय दें, तो प्रथम प्राणी की

आस्तिक—कीड़ा किसने बनाया ?

नास्तिक—स्वत: प्रकृति ने ।

उत्पत्ति से मनुष्य की उत्पत्ति तक लगभग-लगभग बाईस करोड़ वर्ष होते हैं । लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' में डॉक्टर गैडो (Gadaw) की साक्षी से लिखा है कि 'मछली से मनुष्य होने में ५३ लाख ७५ हजार पीढ़ियाँ बीतीं ।' इतनी ही पीढ़ियाँ अमीबा से मछली होने में बीती होंगी, अर्थात् अमीबा से आज तक लगभग एक करोड़ पीढ़ियाँ बीत चुकीं । कोई पीढ़ी एक दिन और कोई सौ वर्ष जीती है । यदि सबका औसत २५ वर्ष मान लें तो इस हिसाब से भी प्राणियों के प्रादुर्भाव को आज २५ करोड़ वर्ष होते हैं । यह भी माना जाता है कि पृथिवी के हो चुकने के करोड़ों वर्ष बाद प्राणी हुए और प्राणियों की उत्पत्ति से आज तक २५ करोड़ वर्ष हो गये । इस प्रकार यह अवधि विकासवादियों की निश्चित की गई अवधि (दस करोड़ वर्ष) से बहुत आगे निकल गई है ।

आद्यकालिक प्राणिरचना को क्रमिक विकास के सिद्धान्त पर माननेवाले विद्वानों ने इस बात पर विचार किया है कि एकमात्र मूल से अनेक शाखा-प्रशाखाओं में बँटकर विभिन्न योनियों के रूप में जीवन कैसे पहुँच जाता है । उनका कहना है कि प्राणी की इच्छा और आवश्यकता ऐसी स्थितियाँ हैं जो उसके विकास और परिवर्तन का कारण बनती हैं । प्राण-रक्षा की भावना प्राणिमात्र में नैसर्गिक है । उस भावना से विवश होकर प्राणी को जो क्रिया बारम्बार करनी पड़ती है, धीरे-धीरे उसमें उस शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है और फिर धीरे-धीरे क्रिया को करने में समर्थ अंग का विकास हो जाता है । दूसरी ओर प्राणरक्षा के लिए जिस क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती उनका अभ्यास नहीं रहता । अभ्यास न रहने से वह अंग अशक्त हो जाता है और अन्त में एक दिन उसका लोप हो जाता है । भोजन के लिए प्रयत्न तथा प्राकृतिक संघर्ष एवं शत्रुओं से रक्षा के लिए प्राणी को अनेक परिवर्तनों में से गुजरना पड़ता है । उनमें से जो अपने को परिस्थिति के अनुकूल बना सके वे बच गये । जो उन संघर्षों में अपने

आस्तिक—प्रकृति जड़ है। वह अपने गुण से भिन्न गुण चेतनता को कैसे बना सकती है ?

को आवश्यकतानुसार परिवर्तित न कर सके वे नष्ट हो गये। इन्हीं कारणों से शरीर में धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहा और प्राणी विभिन्न योनियों में बँट गया। आधुनिक विकासवाद के अनुसार प्राणी के क्रमिक विकास में उसकी आवश्यकताजन्य इच्छा तथा उसको पूरा करने के लिए किये गये चिरकालीन अभ्यास के परिणामस्वरूप होने वाले आकृति-परिवर्तन के उदाहरण के रूप में अफ्रीका के मरुदेश में पाये जानेवाले लम्बी गर्दनवाले जिराफ़ नामक पशु का उल्लेख किया जाता है। कहते हैं, यह पहले ऐसा नहीं था, जैसा आज देखा जाता है। जिराफ़ ने जब वृक्षों पर नीचे के पत्ते खा लिये तो ऊपर के पत्ते खाने की इच्छा हुई। अपनी इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए वह गर्दन उठा-उठाकर प्रयत्न करने लगा। चिरकाल तक ऐसा करते रहने से उसकी गर्दन लम्बी हो गई।

परन्तु परिस्थिति के अनुरूप आवश्यकतावश आकृति-परिवर्तन की मान्यता युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। बकरी जब नीचे के पत्ते चुग लेती है तब तने पर या टहनियों पर अगले पैर टिकाकर पत्ते चुग लेती है। लाखों वर्षों से वह इसी तरह अपना पेट भरती आ रही है। परन्तु आज तक न उसकी गर्दन बढ़ी, न उसका अगला भाग लम्बा हुआ, और न उसके लिए चारे की कमी हुई। यहाँ यह भी विचारणीय है कि गर्दन बढ़ाने के बजाय ज़िराफ में बन्दर की तरह पेड़ पर चढ़ने की प्रवृत्ति का विकास क्यों नहीं हुआ ? न जाने कब से मनुष्य उत्तरी ध्रुव तथा ग्रीनलैण्ड जैसे शीतप्रधान देशों में बसा हुआ है, किन्तु शीत से बचने की इच्छा तथा आवश्यकता के होते हुए भी उसके शरीर पर रीछ जैसे बाल पैदा नहीं हुए। इतना ही नहीं, जैसे लम्बे बाल राजस्थान की तपती मरुभूमि में रहनेवाली भेड़ के होते हैं, वैसे ही हिमालय के शीतप्रधान देश में रहनेवाली भेड़ के होते हैं। अफ्रीका के अति उष्ण प्रदेशों में दीर्घरोमा रीछ और रोमरहित गैंडा एकसाथ रहते हैं। अपने ही देश में एक जैसी परिस्थिति में रहनेवाली गाय और

नास्तिक—संयोग से गुणान्तर हो जाता है, जैसे मिट्टी, जल और अन्यान्य चीजों के मेल से वर्षा में गिजाई बन जाती हैं।

भैंस में इसके विपरीत अन्तर देखा जाता है। भैंस का चर्म पतला, चिकना और लघु-रोम होता है। इसके विपरीत गाय का चर्म अपेक्षाकृत कठोर और चर्मबहुल होता है। विकासवाद के अनुसार आत्मरक्षा की भावना के कारण हरिण, चीतल, नीलगाय आदि अनेक प्रकार के जगली पशुओं में नर के सींग होते हैं, मादा के नहीं। क्या आत्मरक्षा के लिए सींगों की आवश्यकता नर को ही होती है, मादा को नहीं? जंगली पशुओं की अपेक्षा मनुष्य द्वारा पालित व सुरक्षित गाय भैंस आदि को कम खतरा होता है। फिर क्या कारण है कि उनमें नर-मादा दोनों के सींग होते हैं। फिर, कोयल के मधुर कण्ठ और मोर के सुन्दर पंखों का प्राणरक्षा से क्या सम्बन्ध है? फिर भी ये दोनों गुण अपने-अपने स्थान पर विद्यमान हैं। कौए को क्या अपनी काँ-काँ अच्छी लगती होगी और मोर के सुन्दर पंख देखकर क्या मोरनी को ईर्ष्या नहीं होती होगी?

भाई और बहन एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होते हैं और बढ़ते हैं। पर बहन के मुँह पर दाढ़ी-मूँछ का नाम भी नहीं होता। हाथी और हथिनी एक ही परिस्थिति में रहते हैं। पर हथिनी के मुँह में बाहर को निकले बड़े दाँत नहीं होते। 'हाथी के दाँत खाने के और, दिखाने के और' हाथी पर ही लागू होता है, हथिनी पर नहीं। मोर और मयूरी और इसी प्रकार मुर्ग़ा और मुर्गी एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होते, पलते और बढ़ते हैं; पर मयूरी और मुर्ग़ी के वे सुन्दर पर और कलग़ी नहीं होते जो मोर और मुर्गे के होते हैं।

भारत में व्याघ्र, सिंह व हाथी होते हैं, पर इंगलैण्ड आदि देशों में नहीं होते। जिराफ़ अफ्रीका में, कंगारू आस्ट्रेलिया में और मोर भारत में होता है। यूरोपवासियों द्वारा वहाँ पहुँचाये जाने से पहले आस्ट्रेलिया में खरगोश नहीं होता था। स्पष्ट है कि जब तक कोई प्राणी कहीं न पहुँचे और सन्तति का विस्तार न करे, तब तक कोई प्राणी आप-ही-आप वहाँ पैदा नहीं होता।

आस्तिक—वहाँ भी मैं आत्मा को पृथक् मानता हूँ, गुण घटते-बढ़ते अवश्य हैं किन्तु कारण के गुण कार्य में अवश्य आते हैं। जब कारण प्रकृति जड़ ही होगा, शरीर में चेतनता कहाँ से आई, यह बताइए।

मनुष्यों को छोड़कर जितने प्राणी हैं, उनके बालों में, पैदा होने से मृत्युपर्यन्त किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता। जो गाय जिस रंग की होती है, आजीवन उसी रंग की रहती है, परन्तु न चाहते हुए भी मनुष्य के बाल रंग बदलते रहते हैं। जितने पशु हैं, पानी में डालते ही तैरने लगते हैं। मनुष्य का तथाकथित पूर्वज बन्दर भो पैदा होते ही तैरने लग जाता है। यहाँ तक कि राजस्थान की वह भैंस भी, जिसने जीवन में कभी तालाब के दर्शन भी कभी नहीं किये होते, अवसर मिलने पर झट तैरने लग जाती है। परन्तु सदा नदी या समुद्र के तट पर रहनेवाला मल्लाह का बेटा भी तैरना सीखे बिना नहीं तैर सकता। प्राणरक्षा की भावना के होते हुए भी जंगली मनुष्यों के सिर में सींग नहीं निकले और न नदी के किनारे रहनेवाले लोगों में स्वतः तैरने की शक्ति का विकास हुआ। अनादि काल से कछुआ पृथिवी पर चलता आ रहा है, किन्तु उसके पेट की कोमलता में अन्तर नहीं आया। दूसरी ओर उसकी पीठ पत्थर की तरह कठोर है, जबकि वह एक दिन भी धरती पर रगड़ी नहीं गई। विकासवाद के अनुसार इसके विपरीत होना चाहिए था। प्राणिमात्र में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। यह प्रवृत्ति पतंगे में भी होनी चाहिए। दीपशिखा के सम्पर्क में आते ही वह जल जाता है। न जाने कब से जलता आ रहा है, परन्तु उसने कभी भी उससे बचने का प्रयास नहीं किया। इसके लिए उसे कोई विशेष प्रयत्न भी नहीं करना पड़ता। दीपशिखा से तनिक दूर रहने का अभ्यासमात्र करना था। किन्तु लाखों-करोड़ों वर्षों में वह इतना भी नहीं कर पाया।

मनुष्य को विकासक्रम में अन्तिम–श्रेष्ठतम प्राणी माना जाता है। तब मनुष्य की तुलना में चींटी जैसे क्षुद्र प्राणी को वर्षा का और कुत्ते जैसे निकृष्ट प्राणी को भूकम्प का पूर्वानुमान कैसे हो जाता है?

नास्तिक—जैसे कार्बन और जस्त तथा नमक का पानी मिलने से विद्युत् उत्पन्न हो जाती है, ऐसे ही चेतनता उत्पन्न हुई।

प्रशासनिक योग्यता की दृष्टि से मधुमक्खी को आदर्श क्यों माना जाता है ? प्रत्येक प्राणी अधिक-से-अधिक काल तक जीना चाहता है। विकास के किसी भी स्तर पर उसने इस इच्छा का परित्याग नहीं किया होगा। तब, मनुष्य की अपेक्षा कहीं निम्न स्तर के प्राणी कछुआ, साँप आदि क्यों दीर्घजीवी होते हैं ? थोड़े काल में अधिक मार्ग तय करने के लिए मनुष्य मोटरों, वायुयानों आदि का आविष्कार और विकास कर रहा है। तब, उसने चीते की तेज गति को छोड़ना कब चाहा होगा ? कुत्ते की घ्राण शक्ति और गृध्र की दूरदृष्टि को भी उसने जानबूझकर खोना कभी नहीं चाहा होगा। अनुपयोगी जानकर उसने उनकी उपेक्षा कर दी होती तो आज अपराधियों को पकड़ने के लिए कुत्तों की सहायता क्यों लेता ?

बया नामक छोटी-सी चिड़िया जैसा सुन्दर घर बनाती है, वैसा मनुष्य से केवल एक पीढ़ी नीचे माना जानेवाला बन्दर नहीं बना सकता। पर यह भी सत्य है कि जैसा घर वह लाख-करोड़ों वर्ष पहले बनाती थी, आज भी वैसा ही बनाती है। मकड़ी जाला बनाती है। मधुमक्खी छत्ता बनाती है और फूलों से पराग लाकर और उसे मधु बनाकर उसमें एकत्र करती है। किन्तु इन्होंने ये कलाएँ किसी से सीखीं नहीं—ये उनके अपने आविष्कार भी नहीं हैं। उन्होंने अपनी ये कलाएँ अन्य प्राणियों को सिखाईं भी नहीं। जिसको जो आता है और जैसा आता है, वह उसे उसी रूप में करता आ रहा है।

लामार्क नामक विद्वान् ने चूहों की दुमें काटकर बिना दुम के चूहे पैदा करने चाहे। चूहों की अनेक पीढ़ियों तक वह ऐसा करता रहा। पर बिना पूंछ के चूहे पैदा न हुए। हिन्दुओं के लड़के-लड़कियाँ लाखों वर्षों से कान छिदवाते आ रहे हैं; हज़रत इब्राहीम के समय से यहूदी और मुसलमान खतना कराते आ रहे हैं; चीनी स्त्रियाँ न जाने कब से पैर छोटे करने का प्रयास कर रही हैं। परन्तु न हिन्दुओं के

आस्तिक—कार्बन की जगह आम की लकड़ी लगा देने से विद्युत् क्यों नहीं बनती है ?

नास्तिक—ऐसा प्रकृति का स्वभाव है।

घरों में कनछिदे बच्चे पैदा हुए, न मुसलमानों के यहाँ खतना की हुई सन्तान पैदा हुई और न चीनी घरों में छोटे पैरोंवाली लड़कियाँ पैदा हुईं।

मोटर आदि का विकासक्रम में उपलब्ध अन्तिम रूप (Latest Model) ही बनता है। जब मनुष्य जैसा सर्वोत्कृष्ट प्राणी तैयार हो गया तो निचले स्तर के सभी पशु-पक्षियों का सर्वथा लोप हो जाना चाहिए था। परन्तु हम देखते हैं कि आज भी मछली से मछली, भेड़ से भेड़ और कुत्ते से कुत्ते ही पैदा हो रहे हैं। यहाँ तक कि जिस बन्दर से मनुष्य बना कहा जाता है, उससे भी बन्दर ही पैदा हो रहे हैं, मनुष्य नहीं। फिर, विकास तो विकास है, उसकी कोई अन्तिम सीमा नहीं आ सकती। तो फिर, विकास का क्रम कैसे रुक गया ? मनुष्य से आगे अन्य कुछ क्यों नहीं बना ?

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं जो विकासवाद द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के व्यतिक्रम को स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः जो योनियाँ जिस प्रकार की हैं, वे सदा से वैसी ही हैं और भविष्य में वैसी ही बनी रहेंगी। आवश्यकता, तन्मूलक इच्छा, अभ्यास एवं वातावरण या परिस्थिति के कारण उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं। अत्यन्त प्रतिकूल प्राकृतिक परिस्थितियों में अनेक जातियाँ नष्ट भले ही हो जाएँ, पर उनमें ऐसा परिवर्तन नहीं हो सकता जो उनकी नैसर्गिक जाति को बदल डाले। इन सब बातों से प्रमाणित होता है कि आदिम मनुष्यों ने हीन मस्तिष्क प्राणियों से विकसित होकर उन्नति नहीं की, प्रत्युत वे परमात्मा की विशिष्ट रचना थे और आज के उत्तम मस्तिष्कों की अपेक्षा अधिक उन्नत एवं विकसित थे।

विज्ञान कहता है कि सर्वप्रथम एक कोश का प्राणी हुआ; पर इस समस्या का समाधान विज्ञान आज तक नहीं कर पाया कि एक

आस्तिक—वह बिना कारण ऐसा क्यों है ?

नास्तिक—बिना कारण नहीं, उन तीनों चीजों में ऐसा ही गुण है।

कोश का प्राणी कैसे हो गया ? अमीबा नाम का प्राणी एक कोश का देह है। ठीक वही देह अनेकानेक संख्या में मिलकर अन्य अनेक कोश-युक्त प्राणिदेह की रचना करते हैं, ऐसा विज्ञान के लिए भी सिद्ध करना कठिन है। यदि एक कोश का प्राणी आप-ही-आप उत्पन्न हो सकता है। अन्यथा, जिस अन्तर्व्याप्त शक्ति के प्रभाव से एक सेल (Cell) का अमीबा उत्पन्न हो सकता है, उसी शक्ति से मनुष्य शरीर की रचना होने में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। वनस्पतिशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् डाक्टर बीरबल साहनी से पूछा गया—"आप कहते हैं कि आरम्भ में एक सेल के जीवित प्राणी थे, उनसे उन्नति करके बड़े-बड़े प्राणी बन गये। आप यह भी कहते हैं कि आरम्भ में बहुत थोड़ा ज्ञान था, धीरे-धीरे उन्नति होते हुए ज्ञान उस अवस्था को पहुँच गया जिसको विज्ञान आज पहुँचा हुआ है। तब आप यह तो बताइये कि—"Wherefrom did life come in the very beginning and wherefrom did knowledge come in the very beginning ?" अर्थात् प्रारम्भ में जीवन कहाँ से आया और प्रारम्भ में ज्ञान कहाँ से आया ? क्योंकि जीवन शून्य से उत्पन्न हो गया, यह नहीं माना जा सकता।" डाक्टर साहनी ने उत्तर में कहा, "इसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं कि आरम्भ में जीवन या ज्ञान कहाँ से आया। हम इस बात को स्वीकार करके चलते हैं कि आरम्भ में कुछ जीवन भी था और कुछ ज्ञान भी था—"With this we are not concerned as to wherefrom life came in the very beginning or wherefrom knowledgc came in the very beginning. We are to take it for granted that there was some life in the beginning of the world and there was knowledge also in the beginning of the world and by slow progress it increased. इससे स्पष्ट है कि विकासवाद, जिसका इतना शोर है और जिसे अर्धशिक्षित जन अन्तिमेत्थम् के

आस्तिक—उनमें पृथक्-पृथक् विद्युत्-प्रवाहक गुण है या नहीं ?

नास्तिक—हाँ, है।

रूप में मानते चले जा रहे हैं, युक्ति के सामने नहीं ठहर सकता। सच तो यह है कि जब जड़ पदार्थों में स्वयं संचालन (self direction) तथा सम्प्रयोग (co-ordination) की शक्ति है ही नहीं, तो विकासवाद के सिद्धान्तानुसार अरबों वर्ष में भी जड़ परमाणुओं में इस प्रकार संचालन कि अन्ततोगत्वा जीवित प्राणियों का विकास हो सके, असम्भव है। इसी प्रकार यद्यपि मानव में ज्ञान का विकास उसकी चिन्तन शक्ति के साहचर्य से होता है, तथापि जो कुछ ज्ञान वह प्राप्त करता है, उसका आदिमूल वह स्वयं नहीं है।

मानव बुद्धि जड़ होने से किसी अन्य से प्रेरणा की अपेक्षा रखती है। बुद्धि एक जन्मजात शक्ति है, किन्तु ज्ञान अर्जित सम्पत्ति है। मनुष्य को स्वतः ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। उसे आरम्भ में गुरु-ज्ञान प्राप्त हो जाये तो वह अपने अनुभव, चिन्तन, संवेदन और बुद्धि के द्वारा उस ज्ञान का विकास कर सकता है, अर्थात् पशुओं की भाँति केवल स्वाभाविक ज्ञान के आश्रित न रहकर वह नैमित्तिक ज्ञान के सहारे ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ते चले जाने में समर्थ हो जाता है। मनुष्ययोनि की यही विशेषता है। इसी व्यवस्था में मनुष्य योनि की सार्थकता है। यही ऐसी योनि है जिसमें रहकर जीव को विकास का अवसर मिलता है। परन्तु यह विकास स्वतः नहीं होता। समुचित साधनों के रूप में नैमित्तिक ज्ञान के द्वारा ही सम्भव होता है। इसी को लक्ष्य कर शास्त्रों में कहा है—'**मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद**'—अर्थात् माता, पिता तथा आचार्य की सहायता से ही मनुष्य ज्ञानवान् होता है।

अफ्रीका में गृहीतजन्म हब्शीपुत्र को इंगलैण्ड में लाकर वहीं किसी गृहस्थ में रखकर उसका पालन-पोषण किया जाये तो वह अंग्रेजों की भाँति व्यवहार करेगा। इसके विपरीत यदि किसी अंग्रेज बालक का अफ्रीका के किसी हब्शी के घर में रखकर पालन-पोषण किया जाये

आस्तिक—इसी तरह पृथक् किसी भी वस्तु में चेतनता दिखाइए।

नास्तिक—सो तो नहीं दीख पड़ती।

तो वह हब्शियों जैसा व्यवहार करेगा। गुजरात में उत्पन्न बालक गुजराती और बंगाल में उत्पन्न बालक बँगला बोलता है। इस सबका कारण यही है कि जहाँ जिसको जैसा सीखने का अवसर मिलता है वह वैसा ही सीखता और व्यवहार करने लगता है। जंगली जातियों में ही नहीं, आधुनिक सभ्य सुशिक्षित समाज में भी किसी बड़े-से-बड़े विद्वान् का बालक भी बिना पढ़े विद्वान् नहीं बन जाता।

स्वाभाविक ज्ञान की दृष्टि से मनुष्य पशुओं से पीछे है। पशु को तैरना सिखाना नहीं पड़ता, परन्तु तैरने की कौन कहे, जब तक अंगुली पकड़कर चलाया न जाये तब तक मनुष्य का बालक चल भी नहीं सकता।

स्वाभाविक ज्ञान नैमित्तिक ज्ञान की प्राप्ति में सहायक तो हो सकता है, किन्तु स्वयं विकसित होकर मनुष्य के व्यवहारादि के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। स्वाभाविक ज्ञान से युक्त बच्चों को भी पढ़ने के लिए अध्यापक के पास जाना पड़ता है। यदि मात्र स्वाभाविक ज्ञान के सहारे मनुष्य अपने अनुभव से ही ज्ञान प्राप्त कर सकता तो जंगलों में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति बिना पढ़े ही कभी-न-कभी गणित या व्याकरण का आचार्य, डाक्टर, इंजीनियर और विज्ञानवेत्ता बन गया होता। परन्तु अफ्रीका, अमरीका और आस्ट्रेलिया के द्वीपों में जहाँ शिक्षा की व्यवस्था नहीं है, हजारों-लाखों वर्षों से बसे हुए हब्शी लोग आज भी पशुवत् जीवन व्यतीत कर रहे हैं। भारत में भी सुदूर पर्वतीय प्रदेशों और जंगलों में रह रही भील, सन्थाल, नागा आदि जातियाँ आज तक असभ्य बनी हैं। कौन कह सकता है कि उनमें चेतना या संवेदना का सर्वथा अभाव है। यदि स्वभाव से मनुष्य उन्नति कर सकता तो उनकी दशा अब तक ज्यों-की-त्यों क्यों बनी रहती? दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि जैसे-जैसे शिक्षित और सभ्य देशों के लोग इन पिछड़े क्षेत्रों में पहुँचकर स्कूल आदि की व्यवस्था

आस्तिक—बस तो मानना पड़ेगा चेतनता एक भिन्न वस्तु है, अवश्य ही संयोग से १ भिन्न गुण पैदा होता मालूम होता है किन्तु वह गुण संयुक्त चीजों के अवयवों में अवश्य छिपा रहता है।

करते जाते हैं, वैसे-वैसे वे लोग शिक्षित होते चले जाते हैं। जो काम स्वत: लाखों वर्षों में न हो पाया, प्रयत्न करने पर वह कुछ ही वर्षों में हो गया।

समाजशास्त्री भी यह स्वीकार करते हैं कि मनुष्य, जैसे भी हो, समाज से ज्ञान ग्रहण करता है। इसीलिए यदि आज भी किसी मानव को समाज से पृथक् कर दिया जाये तो वह सर्वथा अज्ञ रह जायेगा और उसका व्यवहार पशुवत् होगा। समय-समय पर जो परीक्षण किये गये हैं उनसे यही पता चला कि यदि किसी बालक को पैदा होते ही अपने माता-पिता और मानव समाज से पृथक् करके जंगल में पशुओं के बीच छोड़ दिया जाये तो वह पशुओं की भाँति ही व्यवहार करेगा। वैसे ही चले-फिरेगा और वैसी ही बोली बोलेगा। आकृति के सिवा उस मानव शिशु में और उन पशुओं में कोई अन्तर नहीं होगा। जन्म के तत्काल बाद से भेड़ियों की माँद में पलनेवाले रामू और कमला की कहानी तो देशभर में चर्चा का विषय बनी रही। ये बच्चे भेड़ियों की भाँति चारों हाथों-पैरों से चलते थे, उन्हीं की तरह कच्चा मांस खाते थे और बोलने के नाम पर उन्हीं की तरह गुर्राते थे। मानव समाज से दूर पशुओं के बीच रहकर वे पशु ही बन गये थे।

आहार-निद्रा-भय-मैथुन तथा आत्मसंरक्षण विषयक पशु-जगत् का कार्य नैसर्गिक ज्ञान से चल सकता है; परन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जिसके जीवन का लक्ष्य है, वह मनुष्य नैमित्तिक ज्ञान के बिना आगे नहीं बढ़ सकता। विकासवाद के अनुसार मनुष्य की बुद्धि ज्ञान व अनुभव के द्वारा धीरे-धीरे विकसित होकर स्वत: ज्ञान-प्राप्ति में समर्थ हो जाती है। यह कहा जाता है कि यद्यपि एक मनुष्य अपने जीवनकाल में स्वत: ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, तथापि वंशानुक्रम से धीरे-धीरे विकास करता हुआ ज्ञान का संचय कर लेगा। साधारण

नास्तिक—क्या वीर्य और रज के संयोग से चेतनता उत्पन्न नहीं होती ?

दृष्टि से देखने पर यह बात ठीक सी प्रतीत होती है, परन्तु गहराई से विचार करने पर इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है।

दीपक पर पतंगा आता है और जल जाता है। जब से दीपक और पतंगा हैं तभी से ऐसा होता आ रहा है। पतंगों के लाखों-करोड़ों वर्ष के अनुभव ने उन्हें वह ज्ञान नहीं दिया जिससे वे भविष्य में जलने से बच जाते। सिखाने से तो सर्कस में बन्दर, हाथी, घोड़े आदि पशु कई प्रकार के करतब दिखाते हैं, परन्तु स्वतन्त्र रूप में उनका आचरण आज भी वैसा ही है जैसा लाखों वर्ष पहले था। मनुष्योचित व्यवहार का प्रदर्शन करने में दक्ष चिंपाजी भी चिड़ियाघर में आकर ही कुछ सीख पाता है, और यह भी प्रशिक्षक के द्वारा। पशुजगत् में ही नहीं, मानवजगत् में भी यही नियम काम कर रहा है। कोई परिवार चाहे कितना ही शिक्षित और ज्ञानी हो और कितनी ही पीढ़ियों से उसमें शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन चला आ रहा हो, उस परिवार की सन्तति भी बिना स्वयं पढ़े-लिखे विद्वान् बन जाये, यह सम्भव नहीं। ज्ञान का यदि क्रमिक विकास होता तो भावी सन्तति में वह स्वतः संक्रमित होता रहता। यदि कहीं दो सहोदर भाइयों में से एक की शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर दी जाये और दूसरा उस शैक्षिक व्यवस्था से वंचित रहे तो दूसरा एक ही वंश-परम्परा में सगा भाई होने पर भी मूर्ख रह जायेगा। ज्ञान-प्राप्ति का नैमित्तिक साधनों पर अवलम्बित रहना ही इसमें कारण है।

यदि जीवात्मा स्वभावतः उन्नति करता होता तो सृष्ट्युत्पत्ति के लाखों-करोड़ों वर्ष बीतने पर अब तक ज्ञान की पराकाष्ठा हो गई होती। स्कूल-कालिज होते भी तो कभी के बन्द हो गये होते। बहुत-से सर्वज्ञ हो गये होते। किन्तु वास्तविकता यह है कि यदि आज भी बच्चों को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाये तो वे उन्नति के स्थान पर अवनति करने लगेंगे। ऊपर चढ़ने की भाँति उन्नति, परिश्रम और तपस्या माँगती है और मनुष्य उससे बचना चाहता है, क्योंकि वह स्वभाव से

आस्तिक—नहीं, वीर्य और रज तो साधन हैं, चेतनता पृथक् पदार्थ है। ऐसा न हो और शरीर ही चेतन हो तो मृत मनुष्य में भी चेतनता होनी चाहिए।

सरलता व सुगमता चाहता है। वर्तमान युग की तथाकथित उन्नति मानव गुणों के विकास का नहीं, उसके सुख, सुगमता और सरलता का इतिहास है। वस्तुतः मानवीय गुणों का ह्रास हो रहा है। आदि मानव आज के मनुष्य से मानवीय सामर्थ्य में अधिक उन्नत था यह निर्विवाद है। इसकी साक्षी किसी ऐसे मानवीय व्यवहार में ढूंढी जा सकती है जिसका आदि मानव में होना प्रमाणित हो और जो आज भी विद्यमान हो। वह है भाषाविज्ञान। वैदिक भाषा संस्कृत से और संस्कृत भाषा ग्रीक और लैटिन आदि भाषाओं से अधिक सक्षम, विविध उच्चारणों को अंकित करने में अधिक समर्थ है और अधिक गठित भी। वर्तमान भाषाएँ उच्चारण करने में सुगम और स्मरण करने में सुसाध्य तो हैं, परन्तु न तो उनमें प्राचीन भाषाओं का-सा लालित्य है, न भावाभिव्यक्ति की क्षमता और न थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कहने का सामर्थ्य। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक सभी दृष्टियों से आज की तुलना में आदिमानव कहीं अधिक उन्नत था।

जब यह निश्चय हो गया कि मनुष्य किसी के सिखाये बिना कुछ नहीं सीख सकता तो प्रश्न उठता है कि पहली पीढ़ी के मानवों ने जीवन का व्यवहार किससे सीखा होगा ? जिस प्रकार वर्त्तमान में हमने माता-पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया है वैसे ही हमारे माता-पिता आदि ने अपने माता-पिता आदि से और उन्होंने भी अपने माता पिता आदि से ज्ञान प्राप्त किया होगा। यह क्रम चलते-चलते जब सृष्टि के आदिकाल में अमैथुनी सृष्टि तक पहुँचेगा, जहाँ पृथिवी पर मानव की सर्वप्रथम प्रादुर्भूत पीढ़ी मिलेगी, तब निश्चय ही परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई शिक्षक नहीं मिलेगा अतः मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ परमेश्वर द्वारा अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न मनुष्यों को वेद के रूप में नैमित्तिक ज्ञान का मिलना सर्वथा युक्तियुक्त है। उन मनुष्यों

नास्तिक—अच्छा यही सही, क्रम विकास सिद्धान्त को मानने में आपको आपत्ति क्या है ?

आस्तिक—इसमें बहुत दोष आते हैं ।

(१) परमात्मा जब सब प्रकार के शरीर ज्ञानपूर्वक बना सकता है तब छिपकली से मनुष्य क्यों बनाए जावें ? मनुष्य ही क्यों न बनाए जावें ?

(२) यदि ईश्वर न माना जाए और क्रम विकास माना जाए तो उन्नति किसने की ? मसलन पृथ्वी भर पर काई थी और उससे सांयोगिक गुण से कीड़े बने तो प्रश्न यह होगा कि संयोग किसने किया ? यदि कहा जाए कि जैसे आम पर कलम लगने से प्रथम आम का प्रत्येक गुण बदल जाता है इसी प्रकार बदल गया, तो कलम लगाने वाला तो एक मनुष्य पृथक् है वहाँ तो काई के सिवाय और कुछ था ही नहीं । हो सकता है कि कुत्ते और भेड़िये के मेल से एक और शक्ल का जीव उत्पन्न हो जावे किन्तु जब पृथ्वी भर में अचेतन एक रूप प्रकृति मात्र थी तो उससे सर्वथा भिन्न चेतन द्रव्य कहाँ से और कैसे उत्पन्न हो गया ? फिर यह कहना भी कि छिपकली धीरे-धीरे उन्नति करते-करते मेंढक या अन्य किसी जानवर की शक्ल में बदल

द्वारा अपनी सन्तति अथवा शिष्यों में ज्ञान का संक्रमण हुआ । यही क्रम अब तक चला आ रहा है । इस प्रकार संसार में आज जितना भी ज्ञान है, उसका आदिमूल परमेश्वर ही ठहरता है । इसीलिए महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगदर्शन में **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** कहकर परमात्मा को गुरुओं का गुरु बताया है । योगदर्शन के इस सूत्र का आशय यही है कि आदिकाल में जब सर्वप्रथम मानवों का आविर्भाव हुआ तो उनके मार्गदर्शन के लिए आवश्यक सब बातें परमगुरु परमात्मा ने उनके आत्मा में स्फूर्त कर दीं । इसी ज्ञानराशि को वेद नाम से अभिहित किया गया है ।

गई ठीक नहीं; क्योंकि सृष्टि के आदि में यदि छिपकली का रूपान्तर हो जाता तो अब छिपकली का अत्यन्ताभाव होना चाहिए था फिर मेंढकों का यहाँ तक कि बन्दरों तक का अभाव होना चाहिए क्योंकि वे सब बदल गये। यदि कहो नहीं कुछ रह गये तो रहने का कारण बताइए और यह भी बताना होगा कि अब तब्दीली क्यों नहीं होती ? यही क्यों, विकास मनुष्य ही पर क्यों रुक गया, निरवधि होना चाहिए, अर्थात् अब मनुष्य की शक्ल बदलकर और कुछ होनी चाहिए। फिर यदि सूरत ही बदल गई तो बदले किन्तु मनुष्य में ज्ञान और स्मरणशक्ति और भाषा कहाँ से आ गये ? क्योंकि पहले कारणों में तो ये पाए नहीं जाते, और बिना कारण के गुण के कार्य में गुण आते नहीं, फिर अचेतन प्रकृति ने मनुष्य जैसा नियमित विकास कैसे किया ? जब अचेतन का कार्य है तो वह ज्ञानपूर्वक तो होता नहीं, विकास करते-करते कहीं नाक, कहीं टाँग क्यों न लगा दीं ? जैसे पर्वत का शिखर टूटता फूटता बदलता ऊट-पटाँग शक्ल में बदल जाता है वैसे ही तब्दीली होनी चाहिए थी। इस प्रकार विचारने से मालूम होता है कि प्राणियों की हड्डियों और अङ्गों की बनावट में कुछ-कुछ समानता देखकर वैज्ञानिक डार्विन को यह भ्रम हो गया कि कदाचित् इनमें कार्य कारणभाव है। जैसे कोई मनुष्य आँवले के फल को देखकर और ख़रबूज़े को देखकर यह कल्पना कर ले कि आँवला बदलता-बदलता ख़रबूज़ा हो गया—क्योंकि फाँक इसमें भी हैं और उसमें भी। यही हाल यहाँ हुआ है। समानता पाई जाती है किन्तु इससे यह सिद्ध कैसे हो जाता है कि इन पदार्थों में कार्य कारण-भाव है ? प्रथम कार्य कारणभाव के सिद्धान्त को जानना चाहिए तब यह कल्पना करनी चाहिए, सो जब तक उपादान, निमित्त

और साधारण कारण सब न मिल जावें तब तक कोई कार्य नहीं होता, सो प्राणियों के क्रम-विकास में क्या डा० डार्विन ने कार्य कारणभाव को स्थान दिया है ? नहीं, वह तो कल्पना करता है कि चूंकि इसकी और उसकी शक्ल मिलती है अतः इससे इसकी उत्पत्ति माननी चाहिए। यह बात तो ऐसी ही हुई कि देवदत्त की शक्ल यज्ञदत्त से मिलती है अतः देवदत्त यज्ञदत्त से क्रमविकास से उत्पन्न हुआ है। इसलिए यह सिद्धान्त भ्रमपूर्ण, अपूर्ण, अनिश्चित, काल्पनिक और व्यर्थ है अतः त्याज्य है। विद्वान् लोग इसपर और विचार करें। ऊपर के उद्धरण से यह सिद्ध हो गया कि मनुष्य क्रमविकास से उत्पन्न नहीं हुआ बल्कि किसी सर्वज्ञ अनन्त शक्ति चेतन ने इसको बनाया है, और जो अब भी बनाता है। वही सृष्टि के आदि में एकरस था और अब भी है और होगा। अब पुनः यह विचार किया जाता है कि मनुष्य को ज्ञान की आवश्यकता है या नहीं ? यह सभी मानते हैं कि आवश्यकता है, चाहे वह स्वभावतः प्राप्त हो, चाहे सिद्धों से प्राप्त हो, चाहे किसी से प्राप्त हो—यह तो सर्वतन्त्र सिद्धान्त है, उसकी आवश्यकता है, बस जब आवश्यकता है तब उसके लिए निम्नलिखित नियम अवश्य होने चाहिए।

(१) वह ज्ञान सृष्टि के आदि में हो।

(२) उसमें किसी मत विशेष का नाम और खण्डन-मण्डन न हो।

(३) उसमें किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास न हो।

(४) उसकी भाषा एकदेशी और अपूर्ण न हो।

(५) उसके प्राप्त करने वाले शुद्धान्तःकरण राग द्वेषरहित हों।

(६) उसमें भय, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोष न हों।

(७) उसमें मनुष्य के योग्य सब प्रकार का ज्ञान हो।

(८) उसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनों के यथार्थ लक्षण, उनका यथार्थ स्वरूप, उनके पूर्ण सिद्धान्त पाए जावें।

इन आठ बातों से उस पुस्तक या उस ज्ञान की परीक्षा की जा सकती है।

नास्तिक—इनमें से कई दोष आपके माने हुए वेदों में भी पाए जाते हैं। क्या आप उनका निराकरण यहाँ करेंगे?

आस्तिक—यह विषयान्तर होगा, अतः वेदों के विषय में यहाँ कुछ विवेचना नहीं की जा सकती। केवल वे सिद्धान्त बता दिये हैं जिनके आधार पर ईश्वरदत्त ज्ञान की परीक्षा हो सके। ऐसा न होने से प्रत्येक मनुष्य कह सकेगा कि मेरी वर्णमाला की पुस्तक भी ईश्वरोक्त है, जैसे दुनिया भर के स्तोत्र शंकर के बनाए और सारे पुराण व्यासजी के बनाए कहे जाते हैं। हमको केवल यहाँ यह दिखाना था कि यदि ईश्वर से ज्ञान प्राप्त न हो तो अल्पज्ञ जीव कभी ईश्वर, जीव, प्रकृति जैसे गूढ़ रहस्यों को नहीं समझ सकता। चाहे खाने-पीने के साधारण कार्यों में कुछ उन्नति कर भी ले किन्तु जो मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है, उसे कभी प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए उसे अपने से अधिक ज्ञान वाले शक्ति वाले के ज्ञान की आवश्यकता है और जिसकी आवश्यकता है वही ईश्वर है। इस प्रकार तीन हेतुओं से हमने ईश्वर की सिद्धि की है।

●

ग्रन्थकार का संक्षिप्त परिचय

आधुनिक काल में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के जन्मदाता श्री पं० कृपाराम शर्मा (स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती) की प्रेरणा से सन् १८९८ में ज़िला बुलन्दशहर के अन्तर्गत सिकन्दराबाद में सबसे पहले गुरुकुल की स्थापना का श्रेय 'शर्मा जी' नाम से प्रसिद्ध श्री पं० मुरालीलाल शर्मा को है। शर्मा जी ने सबसे पहले अपने पुत्र देवेन्द्र को गुरुकुल में प्रविष्ट करके आदर्श प्रस्तुत किया। आगे चलकर जब सन् १९०१ में स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की तो उन्होंने भी शर्मा जी द्वारा स्थापित परम्परा के अनुसार सबसे पहले अपने दोनों पुत्रों को गुरुकुल में प्रविष्ट किया। कालान्तर में देवेन्द्रनाथ शास्त्री सांख्यतीर्थ के नाम से प्रख्यात, गुरुकुलीय पद्धति पर देश में सबसे पहले शिक्षा प्राप्त करने वाले बालक देवेन्द्र का जन्म सन् १८९२ में पं० मुरारीलाल शर्मा के यहाँ जानकीदेवी के गर्भ से हुआ।

स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा स्थापित गुरुकुल काँगड़ी और पं० मुरारीलाल शर्मा द्वारा संचालित गुरुकुल सिकन्दराबाद में सबसे बड़ा अन्तर यह था कि जहाँ गुरुकुल काँगड़ी में शिक्षा निःशुल्क होने पर भी खान-पान-वस्त्र आदि पर होने वाला व्यय माता-पिता को वहन करना पड़ता था, वहाँ गुरुकुल सिकन्दराबाद में प्राचीन मर्यादा के अनुसार शिक्षा के साथ-साथ रोटी, कपड़ा आदि सभी कुछ निःशुल्क था। किसी सभा से गुरुकुल का सम्बन्ध नहीं था। तीन सौ विद्यार्थियों के पिता शर्मा जी ईश्वर के सहयोग से गुरुकुल चलाते थे—अपना सर्वस्व होम

करके। उन्हीं के पुण्य प्रताप से इस गुरुकुल ने राहुल सांकृत्यायन, डाक्टर मंगलदेव शास्त्री, आचार्य उदयवीर शास्त्री, पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री सिद्धान्तशिरोमणि, डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री तर्कशिरोमणि, आचार्य बृहस्पति वेदशिरोमणि, डा० हरिदत्त शास्त्री षोडशतीर्थ जैसे प्रकाण्ड विद्वान् पैदा किये। इन्हीं शर्मा जी ने पं० रामचन्द्र दहेलवी को शास्त्रार्थ करने की कला सिखाई और कुँवर सुखलाल को बाजे पर अँगुलियाँ रखना सिखाकर तैयार किया। इसी गुरुकुल के विद्यार्थी शुक्रराज शास्त्री को नेपाल में आर्यसमाज का प्रचार करने के अपराध में पेड़ से लटकाकर फाँसी दी गई। विदेश में आर्यसमाज की यह पहली प्राणाहुति थी।

इन्हीं स्वनामधन्य पं० मुरारीलाल शर्मा के सुपुत्र देवेन्द्रनाथ ने आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ और पं० भीमसेन शर्मा जैसे दिग्गजों के सान्निध्य में गुरुकुल सिकन्दराबाद, महाविद्यालय ज्वालापुर तथा काशी में शास्त्रों का अध्ययन किया तथा पंजाब यूनिवर्सिटी से शास्त्री तथा कलकत्ता से सांख्यतीर्थ की उपाधि प्राप्त की। पौराणिक पण्डितों, ईसाई पादरियों और मुसलमान मौलवियों के साथ अनेकानेक शास्त्रार्थ करके शास्त्रार्थमहारथी के रूप में ख्याति प्राप्त की। जैन साहित्य व दर्शनों का शास्त्री जी को विशेष ज्ञान था। इसलिए जैनियों से शास्त्रार्थ करने में वे अद्वितीय माने जाते थे। वक्तृत्व कला में वे अपनी मिसाल आप ही थे। जब वे शास्त्रार्थ करते थे तो उनका पाण्डित्य फूट पड़ता था और प्रतिवादी की बोलती बन्द हो जाती थी। पिताश्री से उत्तराधिकार में प्राप्त शास्त्रार्थ के दाँवपेंचों का वे बड़ी कुशलता से प्रयोग करते थे।

सन् १९३९ में हैदराबाद में हुए आर्यसमाज के ऐतिहासिक

सत्याग्रह के इतिहास को जानने वाले जानते हैं कि हैदराबाद रियासत में प्रवेश पर सबसे पहले शास्त्री जी पर ही प्रतिबन्ध लगा था। दलबन्दी के रोग से आर्यसमाज अपने जन्मकाल से ग्रस्त रहा है। पं० देवेन्द्रनाथ जी को सत्याग्रह में डिक्टेटर नहीं बनाया गया। परन्तु आर्यजगत् में वे इतने प्रतिष्ठित और लोकप्रिय थे कि डिक्टेटर न होने पर भी उन्होंने डिक्टेटरों की शान से लगभग ५०० सत्याग्रहियों की देवेन्द्र स्पेशल के साथ अजमेर से हैदराबाद को कूच किया था।

२२ जनवरी १९२७ को शर्मा जी ने देवेन्द्र जी को बुलाकर कहा था—"बेटा! मेरा समय आ गया है। तुम सभी ज्ञानवान् हो, इसलिए मेरी मृत्यु का शोक न करना। मेरे पीछे तुम्हारी माता को किसी प्रकार का कष्ट न हो। मेरे साथ समाज-सेवा में उसने कठोर यातनाएँ सही हैं। मेरी अन्तिम बात और सुन लो। मेरी अन्तिम इच्छा और वसीयत यही है कि मेरे स्थान पर अब तुम समाज-सेवा करना और मेरे लगाये पौदे गुरुकुल को सींचते रहना।" २३ जनवरी को प्रातः ब्राह्म मुहूर्त्त में शर्मा जी ने संसार से विदा ली और पिता जी की इच्छानुसार शास्त्री जी ने निजी कारोबार का परित्याग कर दिल्ली से विदा ली और गुरुकुल की सेवा में लग गये और अन्त समय तक उसी में समर्पित रहे। गुरुकुल का संचालन करने तथा व्याख्यानों व शास्त्रार्थों में व्यस्त रहने के कारण लेखन-कार्य के लिए जिस स्थिरता और निश्चिन्तता की अपेक्षा होती है, वह उन्हें नहीं मिल सकी। मात्र ५० वर्ष की आयु में १५ नवम्बर १९४२ को आर्यसमाज नरही, लखनऊ के उत्सव पर शंका-समाधान करते-करते अकस्मात् मस्तिष्क की नस फट जाने से मंच पर भरी सभा में सबके सामने मानो युद्धक्षेत्र में उन्होंने वीरगति पायी। ●